हिलोर

संपादक
सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता
श्रीदुलारेलाल भार्गव
(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का १७६वाँ पुष्प

हिलोर

[पीड़ित मानवता के चीत्कार और जागरण की कलात्मक कहानियाँ]

लेखक

श्रीभगवतीप्रसाद वाजपेयी

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३०, अमीनाबाद-पार्क

लखनऊ

प्रथमावृत्ति

१॥)

सजिल्द १॥)] १९३८ [सादी १)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

प्राक्कथन

हिंदी-साहित्य बहुत अंगों में अपूर्ण है। ऐसे तो साहित्य प्रगति-शील है ही, और सभी भाषाओं के साहित्य में दिनानुदिन वृद्धि होती रहती है ; परंतु हिंदी में, कई अंशों में, अभी कमी है। विशेषकर कहानी लिखनेवालों की संख्या थोड़ी है। कवि तो बहुत हैं, उपन्यास लिखनेवाले भी कम नहीं, इधर नाट्यकार भी कई अच्छे ग्रंथ लिख रहे हैं, परंतु अच्छी कहानियाँ लिखनेवाले चार-पाँच से अधिक नहीं। इन चार-पाँच में वाजपेयीजी का भी स्थान है।

कहानी लिखने में बड़ी विलक्षण योग्यता अपेक्षित है। इसकी सीमा परिमित होती है। इसमें पात्रों की संख्या बहुत थोड़ी रहती है। भाव का वर्णन और चरित्र का चित्रण थोड़े ही शब्दों में करना आवश्यक होता है। इशारों से ही पाठकों को वातावरण का ज्ञान कराना पड़ता है। घटनाओं में वेग रहता है, और गति शीघ्र। कहानी आरंभ होते ही पढ़नेवालों का ध्यान आकर्षित होता है, और उनकी उत्सुकता और कौतूहल में अंत तक कमी नहीं आने पाती। लेखक का उद्देश्य थोड़े-से शब्दों में ही—कभी-कभी इशारों से ही—स्पष्ट हो जाता है।

वाजपेयीजी की कहानियाँ हिंदी-साहित्य में आदरणीय हो चुकी हैं। उनकी प्रशंसा करने की आवश्यकता नहीं, उनका स्थान नियत हो चुका है। परंतु कला तो उन्नति करती रहती है, कलाकार की कृति में नया चमत्कार, नई विशेषता, प्रवीणता आती जाती है, विचारों में गांभीर्य आता रहता है। दृष्टिकोण भी काल-क्रम से भिन्न हो जाता है। रुचि, भाषा पर आधिपत्य, कला का उद्देश्य आदि सभी पर समय का प्रभाव पड़ता है। देखना यह है कि इस पुस्तक में वाजपेयीजी किन विषयों पर कहानी लिखते हैं, कैसे पात्रों का चरित्र-चित्रण करते हैं, और किस प्रकार की घटनाओं पर उनका ध्यान जाता है।

इन कहानियों के शीर्षक से ही कुछ पता चलता है कि लेखक की रुचि क्या है। यथा—'अपमान का भाग्य', 'अपराधी के पत्र', 'त्याग,' 'परीक्षा', 'हत्यारा', 'उस क्षण का सुख'। संग्रह का नाम है 'हिलोर'। 'दुःखसंवेदनायैव चैतन्यमाहितम्'—यही लेखक का सिद्धांत है, ऐसा प्रतीत होता है। तो जहाँ पहले से अनुमान भी नहीं हो सकता, वहाँ भी करुण-रस वर्तमान है। उदाहरण के लिये 'मिठाई-वाला'-शीर्षक कहानी लीजिए। बच्चे खिलौने ख़रीदते हैं, फिर वही कुछ दिनों बाद मुरली बेचता है, और मिठाई भी वही बेचता है। बड़े मीठे स्वर से वह पुकारता है—"बच्चों को बहलानेवाला, खिलौने-वाला" अथवा "बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला" अथवा "बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला"—यही वह गाता, अपनी वस्तु बेचता फिरता है। इस घटना में कोई बात ऐसी नहीं, जिससे चित्त उद्विग्न हो। गाना मधुर है। बच्चे जमा हो जाते हैं, सुननेवालों का चित्त प्रसन्न होता है। परंतु गानेवाला यथार्थ में अपनी व्यथा को भूलने की चेष्टा कर रहा है; गाता है इसलिये कि रोना न पड़े, प्रसन्न है इस डर से कि वेदना और स्मृति से बचता रहे।

सामान बेचता है पैसों के लालच से नहीं। औरों के बच्चों को प्रसन्न करके, उनका मोद-प्रमोद देखकर वह अपने मृत बच्चों की झलक देख लेता है। संसार के बाह्य आनंद में कितना दुःख सन्निहित है, यह लेखक का यहाँ, इस कहानी में, उद्देश्य है।

इसी प्रकार 'त्याग'-शीर्षक कहानी से लेखक का यह उद्देश्य है कि एक व्यक्ति के शोक से दूसरे व्यक्ति का आनंद उत्पन्न होता है। सबका सुखी रहना असंभव है। एक के सुख का अर्थ ही है कि दूसरा दुखी हो। अलकनंदा सुखी नहीं हो सकती थी, यदि विमला अपने लिये दुःख का जीवन न अंगीकार करती। "एको रसः करुण एव।"

वाजपेयीजी की कहानियों में श्रेष्ठ कला का यह लक्षण विद्यमान है कि उन्हें बार-बार पढ़ने को जी चाहता है, चित्त ऊब नहीं जाता। ज्ञान की बातें तो हैं, परंतु लेखक में हृदय को स्पर्श करने की शक्ति है। और, वही कला जीवित रहती है, जो हृदयंगम होती है।

अमरनाथ झा
(वाइस-चान्सलर प्रयाग-विश्वविद्यालय)

सूची

अपमान का भाग्य

[१]

"आप लोगों ने अपने-अपने जीवन की कहानियाँ सुनाई हैं। मैं इस समय इस प्रतिबंध का पालन तो नहीं कर सकता; पर हाँ, आप लोगों के मनोरंजन के लिये अपने एक संबंधी की कथा अवश्य सुना सकता हूँ। यदि आप लोग सहमत हों, तो सुनाऊँ।" गल्प-गोष्ठी के सभापति मिस्टर रसिकविहारी अग्निहोत्री ने सीज़र सिगरेट का अंतिम कश लेकर—और अंत में उसे एक ओर फेंककर—कहा।

इस पर एक गाल्पिक बोल उठा—"परंतु आज तो हम लोग व्यक्तिगत कथाएँ सुनने के लिये एकत्र हुए हैं। पर जब मिस्टर प्रेसिडेंट ही इस नियम का पालन न करेंगे, तब कैसे काम चलेगा ?"

"इस विषय में अपनी असमर्थता मैं पहले ही प्रकट कर चुका हूँ। हाँ, मैं आप लोगों को इस बात का विश्वास दिलाता हूँ कि मेरी कथा होगी एक यथार्थ घटना की ही कहानी। अपनी ओर से नमक-मिर्च मैं बिलकुल न मिलाऊँगा। और, साथ ही, मेरा अपना विश्वास यह भी है कि इससे अधिक रोचक घटना मुझे जीवन में कहीं मिली भी नहीं।"

तब तो अन्य सभ्यगण एक स्वर से बोल उठे—"अच्छी बात है, अच्छी बात है। सुनाइए।"

तश्तरी के रजत-पत्र-गुंफित पानों में से दो बीड़े उठाकर मुँह में रखते हुए, मिस्टर अग्निहोत्री ने अपनी कहानी इस प्रकार प्रारंभ की—

पंजाब-मेल के इंटरक्लास का एक कंपार्टमेंट है, जिसमें पाँच-सात यात्री बैठे हुए हैं। डब्बे के एक कोने में एक युवक अचेत अवस्था में लेटा हुआ है। ट्रेन बहुत तेज़ी से जा रही है। सर्दी के दिन हैं। तभी दो दिन से हवा चलने के कारण सर्दी कुछ ज्यादा बढ़ी हुई है। उसका बचाव आवश्यक जानकर डब्बे की खिड़कियाँ बंद कर ली गई हैं। युवक के साथ उसका एक नौकर-मात्र है। वह अपने स्वामी के सिरहाने बैठा हुआ है।...आध-आध घंटे के अंतर से वह उन्हें एक दवा पिला रहा है।

युवक कभी-कभी कराहने लगता है। उसके बदन में चोट है। एक पैर से रक्त बराबर निकल रहा है। बात यह है कि खुरजा और अलीगढ़ के बीच में, यह युवक इसी चलती ट्रेन के दरवाज़े से गिर पड़ा है। लोग हैरान हैं कि ऐसा हट्टा-कट्टा तरुण पुरुष आखिर गिर कैसे पड़ा! चलती हुई ट्रेन से गिर जाने की घटनाएँ यद्यपि होती ही रहती हैं, तथापि एक सावधान युवक का अकस्मात् गिर जाना एक ऐसी बात ज़रूर है, जो सहसा समझ में नहीं आती। परंतु हम भारतीय

भवितव्यता के भी तो भक्त हैं। इसलिये समस्त शंकाओं का निवारण इस एक ही बात से कर लेते हैं कि होनहार कौन टाल सकता है! पर सच पूछिए, तो यह एक सीधी-सी बात है कि युवक पाखाने से निकलकर हाथ-मुँह धोने के लिये उधर बैठा था। एकाएक धक्का लगा, और वह नीचे जा गिरा।

[२]

इस घटना को हुए कई वर्ष व्यतीत हो गए।

उस समय नरेंद्र स्टुडेंट था। आज एक हाईस्कूल में हेड-मास्टर है। इस समय उसकी अवस्था पैंतीस वर्ष की हो चुकी है। पर उसका स्वस्थ शरीर यदि आप लोग देखें, तो चकित हुए बिना न रहें। उसके मुख पर कहीं भी न तो कोई सिकुड़न आई है, न उसके सिर का कोई बाल ही पका है। उसके शौर्य-पूर्ण, तेजोमय मुख पर एक अद्भुत आभा झलझलाती रहती है। अपने शहर में, टेनिस के खेल में, वह अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं रखता। परंतु एक खटकनेवाली बात भी उसके शरीर में आ गई है। वह यह कि उसका एक पैर ज़रा-सा छोटा पड़ गया है।

उपस्थित सभ्यगण इस पर एक दूसरे की ओर देखने लगे। कोई मुस्किराने लगा, किसी ने सिगरेट सुलगाकर अपने मन के भाव छिपाने की चेष्टा की; और कोई मुँह फेरकर इधर-उधर झाँकने लगा।

"आप लोग हँस रहे हैं," कहते हुए मिस्टर अग्निहोत्री बोले—यह मैं स्पष्ट देख रहा हूँ, और उसका कारण भी, मैं जहाँ तक सोचता हूँ, यही है कि मैं एक ऐसे व्यक्ति की कहानी आप लोगों के समक्ष रख रहा हूँ, जो लँगड़ा होने के कारण मुझसे कुछ सादृश्य रखता है। पर आप लोग इस प्रकार मुझे विषयांतरित कर रहे हैं। अंग-हीन पुरुषों को भी इस संसार में रहने का उतना ही अधिकार है, जितना किसी बड़े-से-बड़े पुरुष को। फिर उन पर हम हँसें क्यों? हाँ, तो मैं कह क्या रहा था ?...यही न कि नरेंद्र के पैर में जो खम आ गया है, यह उसके शरीर और जीवन का एक विशेष अभाव है। परंतु अपने इस अभाव का उसे ज़रा भी दुःख नहीं। वरन् वह अपनी उस लँगड़ी टाँग को अपने सौभाग्य का चिह्न समझता है।

नरेंद्र ने अभी हाल में ही अपना विवाह किया है। मेरा-उसका बहुत दिनों से प्रगाढ़ मैत्री का संबंध रहा है। पिछले दिनों, जब तक उसने अपना विवाह नहीं किया था, प्रायः उससे इस संबंध में विवाद हो जाता था।

एक बार की बात है। सर्दी के दिन थे। भयानक जाड़ा पड़ रहा था। मैंने हँसते-हँसते कहा—"जाड़े की ऋतु गृहस्थ लोगों के लिये बड़ी सुखकर होती है।"

"होती होगी," कहते हुए वह बोला—"परंतु मैं तो उन्हें संसार का सबसे अधिक पतित प्राणी मानता हूँ। वे गंदी नालियों

में बिलबिलाते हुए कीड़ों के समान हैं, जो अध्ययन-काल के ऐसे सुयोग को नारकीय भोग-विलास में व्यतीत कर गृहस्थाश्रम के चरम सुख का अनुभव करते हैं !"

दूसरा कोई होता, तो इस बात पर उससे लड़ बैठता। पर मैं उसकी प्रकृति से परिचित था। इसलिये मैंने फिर इस प्रसंग को ही बदल दिया।

एक बार मैंने उससे कहा—"देखता हूँ, तुम्हारा जीवन इसी प्रकार बीता जा रहा है। जीवन के भीतर जो अमृत है, उसका तुम अनुभव ही नहीं कर पाए। इस प्रकार तो तुम्हारा अनुभव अपूर्ण रहेगा। मुझे बड़े-बड़े तपस्वी लोगों के जीवन का अध्ययन करने का सुअवसर मिला है; और अपने अनुभव के आधार पर मैं यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि तुम जिस प्रकार का जीवन बिता रहे हो, वह और अधिक काल तक नहीं चल सकता। तुम निकट भविष्य में या तो पागल हो जाओगे, या फिर तुम्हें विवश होकर दांपत्य जीवन ही ग्रहण करना पड़ेगा।"

मेरे इस कथन पर उसने प्रखर दृष्टि से मेरी ओर देखकर कहा—"हाँ, आपका अनुमान ठीक है। परंतु मैं बहुत विवश हूँ। मैं पागल होकर अपना जीवन नष्ट कर डालना पसंद करता हूँ, परंतु विवाह करना मुझे स्वीकार नहीं है। मैं अपनी आत्मा की संतुष्टि के लिये इस जीवन को उसी प्रकार मसलकर उसका अंत कर सकता हूँ, जैसे कोई किसी विपाक्त

मशक को मसलकर, बात-की-बात में, उसे सदा के लिये, समाप्त कर डालता है !"

नरेंद्र का उत्तर पाकर मैं तो स्तंभित हो उठा। मैं यही सोचने लगा कि यह मानव है कि देवता, देवता है कि शैतान। तो क्या यह मनुष्य ही है ? पर ऐसा भयानक मनुष्य तो मैंने कहीं नहीं देखा। मैं तो ऐसे मनुष्य की कल्पना भी नहीं कर सकता था।

मैंने कहा--"जान पड़ता है, आपको स्त्री-जाति से घृणा हो गई है। और, मेरा अनुभव तो यही कहता है कि किसी-न-किसी घटना के कारण ही आपकी ऐसी उग्र और चित्य विचार-धारा हो रही है।"

वह बोला—"नहीं भाई, तुम बिलकुल उलटा सोच रहे हो। तुम्हारी गति वहाँ तक है ही नहीं। संसार का अनुभव तुम्हें भले ही हो; पर मनुष्यता के मूल में नारीत्व की जो ज्वलंत पूतात्मा है, उसका दर्शन तुम्हें अभी तक नहीं हुआ है। वह आदिशक्ति है, वह जगदंबिका है। सच पूछिए, तो भगवान् की संपूर्ण सत्ता का पूर्ण उदय नारी-हृदय की पवित्रता में ही मिलता है। उनके प्रति घृणा कैसी ! वे तो अर्चना—उपासना—की वस्तु हैं।"

"तो फिर ऐसा कठिन—वरन् असंभव-सा—संकल्प तुमने क्यों कर रक्खा है नरेंद्र ? अरे, कुछ तो बतलाओ।" मैंने कहा।

इस पर वह पहले मुस्किराया, फिर बोला—"अच्छा, तो आप मेरे प्राइवेट जीवन में घुसना चाहते हैं !"

"अब जैसा समझिए आप।" मैंने कहा।

वह मेरे देखते-देखते फिर उग्र हो उठा। कुछ स्थिर रहकर उसने उत्तर दिया—"किंतु ये बातें इस तरह बतलाने की नहीं होतीं। अभी मुझे बहुत दिन जीवित रहना है। जब कभी उपयुक्त समय आएगा, तब मैं स्वयं ही बतलाऊँगा।"

[३]

समय बीत गया। मैंने भी फिर कभी उससे यह प्रसंग नहीं छेड़ा। कितने ही वर्ष और भी व्यतीत हो गए। एक ऐसा भी समय उपस्थित हो गया, जब नरेंद्र के विवाह का निमंत्रण पाकर मैं अकस्मात् विस्मयाकुल हो उठा। बड़ा उत्साह लेकर मैं उसके विवाह में सम्मिलित हुआ।

नरेंद्र अपने सिद्धांत पर दृढ़ रहनेवाला व्यक्ति है, यह मैं अच्छी तरह जानता था। मैं यह भी सोच रहा था कि किसी-न-किसी असाधारण परिस्थिति के उत्पन्न हुए बिना वह कभी विचलित होने का नहीं। इसीलिये अब इस विषय की चर्चा करने को मेरा जी आतुर हो उठा। और, कुछ ही दिनों में ऐसा समय भी अपने आप उपस्थित हो गया।

एक दिन की बात है। नरेंद्र को मैं अपने साथ सिनेमा देखने ले गया। मुझे बड़ी कठिनता से इस कार्य में सफलता मिली। उसने तब तक सिनेमा कभी देखा ही न था। पर उस दिन सिनेमा देखकर वह बहुत प्रभावित हुआ। कथानक प्रेम-पूर्ण था, इसीलिये जान-बूझकर मैं उसे

वहाँ ले गया था। सिनेमा देखकर जब हम लोग लौटने लगे तब मैंने वही प्रसंग छेड़ दिया। मैंने पूछा--"हाँ, अब बतलाओ, तुमने जो इतने दिनों तक विवाह नहीं किया था, उसका कारण क्या था?"

उसने कहा—बड़ी विचित्र बात है कि मेरी प्रियतमा ने भी यही प्रश्न एक दिन मुझसे किया था। और, इसी प्रश्न के कथोपकथन ने उस दिन से मेरी जीवन-धारा को इस ओर मोड़ दिया। आप जानते ही हैं, मैं नियम से फूलबाग़ घूमने जाता हूँ। सायंकाल तो केवल घूमने की इच्छा से जाता हूँ। पर कभी-कभी सबेरे भी जाया करता हूँ। और सबेरे जाने का अभिप्राय होता है खुली हवा में बैठकर अध्ययन करना। गत वर्ष, सर्दी के दिनों में, जब मैं उधर जाया करता था, तब कभी-कभी एक तरुणी भी उधर आ जाती थी। अनेक बार ऐसा हुआ कि वह मेरे निकट से ही टहलती हुई निकल गई। मैं अपने अध्ययन में इतना लीन रहता कि मुझे उसके आने-जाने का प्रायः पता ही न चलता था।

मैं भुलक्कड़ भी परले दर्जे का हूँ, आप जानते ही हैं। एक दिन एक बेंच पर एक पुस्तक भूल गया। मुझे उस पुस्तक की याद तब आई, जब स्कूल में पढ़ाने के लिये उसकी आवश्यकता पड़ी। सायंकाल मैं वहाँ पहुँचकर उसे खोजने लगा। मैंने इधर-उधर बहुत ढूँढ़ा, पर कहीं भी उसका पता न चला। अंत में जब मैं निराश होकर वहाँ से चलने

लगा, तब उसी क्षण मैंने देखा कि एक रमणी मेरे सामने वही पुस्तक लिए खड़ी है।

मुझे अस्त-व्यस्त देखकर वह बोली—आप शायद अपनी पुस्तक खोज रहे हैं। यह लीजिए। कल आप इसे यहीं भूल गए थे। कहीं किसी दूसरे के हाथ में पड़कर ग़ायब न हो जाय, यही सोचकर मैं इसे लेती गई थी। आपको खोजने में कुछ कष्ट तो हुआ ही होगा; पर मेरा वैसा सोचना भी उचित ही था।

मैंने अब उसे ध्यान से देखा। यद्यपि उसकी अवस्था उस समय पचीस से कम न होगी, पर नारी-सौंदर्य की तेजोमयी आभा से उसकी निखिल देह-राशि जगमगा रही थी। भोलेपन का स्थान सलोनेपन ने ले लिया था। उसका आपाद-लुंठित केश-पाश ऐसा सम्मोहक था कि उस पर से अपनी दृष्टि हटाने की मुझे सुध-बुध ही न रही। मेरी लालसा सहस्र धाराओं से उसी की ओर प्रवाहित हो उठी। क्षण-भर बाद मुझे चेत हुआ। मैंने कहा—आपकी इस अनुकंपा के लिये मैं आपका बहुत-बहुत कृतज्ञ हूँ।

और उसी दिन से मैं उस रमणी का उपासक हो गया।

फिर तो उत्तरोत्तर उससे घनिष्ठता बढ़ती ही गई। मैं प्रातःकाल नियम से फूलबाग़ जाने लगा। वहाँ नित्य उसके दर्शन हो जाते थे। ...हाँ, मैं उसे दर्शन ही कहूँगा। बात यह थी कि मैं उसका प्रेमी नहीं था, उपासक था। आप जानते हैं, प्रेमी

और उपासक में अंतर है, बड़ा अंतर। उपासक उसके दर्शन, कल्याण और हित का इच्छुक होता है। उसके हृदय में इष्ट के प्रति श्रद्धा का भाव होता है। वह उसकी प्राप्ति, उसके मिलन-सुख की आकांक्षा नहीं रखता। प्रेमी की स्थिति दूसरी होती है। उसके जीवन की घड़ियाँ विवशता और छटपटाहट, लाचारी और तड़फन की भीम भावना से हहराती रहती हैं। उसका ज्ञान और विवेक, प्राण और जीवन, प्रेमिका की प्राप्ति में पहले भू-लुंठित होकर रहता है। फिर जब उसे सफलता नहीं मिलती, तब प्रतिक्रिया में वह मानव से दानव हो जाता है। उसकी वासना का काल-नाग अपने सहस्र फणों से फुफकारकर प्रेमी को डस लेना चाहता है। प्रेमी के पतन की यह चरम सीमा है। आदर्श प्रेमी कभी ऐसा सोच नहीं सकता। वह तो उसका उपासक होता है। उसके सुख में उसका जीवन है, उसके दुख में उसका मरण।

हाँ, तो मैं कह क्या रहा था ?...यही न कि मेरी-उसकी घनिष्ठता बढ़ती ही गई। मुझे भी उसके संसर्ग से नए जीवन का सुख मिलने लगा। धीरे-धीरे उसने अपने विषय में इतना बतलाया कि मेरे माता-पिता का देहांत हो चुका है। भाई साहब वकील हैं, और यहीं सिविल लाइंस में रहते हैं। मैंने उनसे स्पष्ट रूप से यह वचन ले रक्खा है कि मेरी सम्मति के बिना वह मेरा विवाह न करें।

जितना ही मुझे उसके तपस्वी जीवन का परिचय मिलता

जाता था, उतनी ही उसके प्रति मेरी आस्था सजग होती जाती थी। अंत में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि मैं उससे खुलकर वार्तालाप करने लगा।

एक दिन उसने मुझे आशा-वारिधि की तरंग-राशि में छोड़ दिया। विहँसते हुए, अपनी धवल दंत-मुक्ताओं को तनिक झलका-कर, उसने पूछा—और तो आपने सब कुछ बतलाया, पर अभी तक यह नहीं बतलाया कि आपको यह टाँग कैसे टूटी! हाय! यही तो मेरे जीवन का सबसे प्यारा अंश है। तुमने यह क्या पूछ दिया?

वही तो—वही तो मैं जानना चाहती हूँ।

बस, यही बात न पूछो मुझसे।

और बस, यही तो मैं जानना ही चाहती हूँ।

मैं विवश हो गया।

मैंने कहा—यह घटना उन दिनों की है, जब मनुष्य पहले-पहल जीवन का अमृत चखना चाहता है। बीस-बाईस वर्ष की यह अवस्था कैसी नवनीतोपम तरलधवल, कैसी मीठी और सलोनी, कैसी गदरानी अमिया-सी—कुछ-कुछ हरी, कुछ-कुछ पीली—किंतु अगाध वारिधि के भयंकर विस्फूर्जन की भाँति कैसी उद्दाम होती है! मैं अपने मामा के यहाँ गया हुआ था। वह मेरठ में सेशन जज हैं। गर्मी की छुट्टियों में उस बार वहीं रहा था। उनके बँगले के पास ही एक बैरिस्टर साहब का बँगला था। दोनो बँगलों के निवासियों

में परस्पर बड़ी घनिष्ठता थी। टूटते हुए तारे की भाँति मैं भी उसी में जा मिला।

बैरिस्टर साहब की एक लड़की थी। उसका नाम था कुंद। यह चंचल कपोतिनी मेरे मन में बस गई। बहुत दिनों तक तो वह मुझसे बोली नहीं। अंत में कभी-कभी मिलने और वार्तालाप करने लगी। मुझे पुस्तकें पढ़ने का चसका था। वह मुझे भाँति-भाँति की पुस्तकें पढ़ते देखकर ललच उठती थी। पहले तो उसने अपने मन की बात नहीं बतलाई, पर एक दिन वह मुझसे एक पुस्तक माँग ही बैठी। फिर तो उसका पुस्तकें पढ़ने का क्रम चल पड़ा। यद्यपि पुस्तकें लेने-देने के सिवा और किसी विषय में कभी उससे बातचीत न हुई थी, तथापि मेरा शैतान कब शांत रह सकता था!

अंत में जब मैं वहाँ से चलने लगा, तब मैंने उससे भी मिलना उचित समझा। बैरिस्टर साहब कहीं गए हुए थे, और कुंद की मा भी शायद मेरे बँगले पर ही थीं। कुंद से मिलने का यह कैसा सुंदर सुयोग था। एक ओर कुंद से बिछुड़ने की पीड़ा थी, दूसरी ओर चलते समय उस एकांत-मिलन का यह अप्रत्याशित मनोवांछित संयोग। एक साध को अपने भीतर सँभालता हुआ मैं उसके निकट जा पहुँचा। वह उस समय अपने कमरे में बैठी हुई कुछ पढ़ रही थी। मैंने कहा—मैं अब जा रहा हूँ।

वह कुछ बोली नहीं, क्षण-भर को मेरी ओर एक बार देख-

कर रह गई। मुझसे न रहा गया। आव गिना न ताव, मैं कह बैठा—यह पुस्तक आपकी भेंट है।

उसने लज्जा मे तिलमिलाकर कहा—"धन्यवाद"; किंतु मेरी ओर देखा तक नहीं।

शैतान मेरे भीतर हलकंप मचाए हुए था। मैंने समझा, भीतर कुछ रखते हुए भी, संकोच-वश ही, यह कुछ कह नहीं रही है। मेरा साहस बढ़ गया। मैंने कहा—क्या आपका कोई स्मृति-चिह्न......? अभिप्राय यह था कि क्या मैं अपने को आपका कोई स्मृति-चिह्न प्राप्त करने का अधिकारी समझूँ?

मेरा इतना कहना था कि उसका मुख एकदम उत्तप्त हो उठा। मेरी दी हुई पुस्तक को मेरे ही मुँह पर फेंककर उसने आवेश में आकर कह दिया—शेम ऑन यू (तुम्हें धिक्कार है)!

बस, यहीं से मेरे जीवन में भयानक विपर्यय उपस्थित हो गया। नारी-जाति के विषय में मेरी धारणा ही बदल गई। मनुष्य की कल्पना से परे मैं उसे समझने लगा। जब कोई विवाह करने की चर्चा चला देता, तब मुझे सहस्र सर्पों के दंश का विष-सा चढ़ आता था। अब वह बात तो नहीं रह गई है; पर एक संकल्प की दृढ़ता अब भी मेरे रोम-रोम में अवश्य समाई हुई है और वह यह कि जब तक कोई नारी स्वयं मेरे आगे आत्मसमर्पण न करेगी, तब तक मैं विवाह न करूँगा—

किसी तरह नहीं करूँगा। फिर चाहे जीवन की इति के समय मैं सड़क पर ही क्यों न आश्रय पाऊँ!

उसने कहा—परंतु इससे मेरी शंका का समाधान तो नहीं हुआ।

"हाँ" मैंने कहा—वही बात अब आगे आने को है।...... इस घटना का प्रभाव मेरे जीवन पर, उसके घटित होने के समय, क्या पड़ा होगा, यह आप सोच ही सकती हैं। अनेक बार जी में आया—मेरठ जाऊँ, एक बार कुंद से फिर यही प्रस्ताव करूँ। अंत में जब वह नौकर द्वारा मुझे कान पकड़कर बाहर निकलवा दे, तब जीवन को कुछ अधिक संतोष मिले; क्योंकि तभी तो दूसरे दिन, उसके बँगले के फाटक पर, सवेरे तड़के, चिर-निद्रा में लीन दशा में, मेरा शव पाया जा सकेगा। कम-से-कम उसे इस बात का तो पता चल ही जायगा कि वह इस जगत् का कोई साधारण व्यक्ति न था। उसके जीवन में एक टेक थी, एक हाहाकार था, एक ज्वाला-मुखी का भूकंपमुखी विस्फोट।

दिन बदल गए थे, और उत्तरोत्तर बदल रहे थे। खाने-पीने में रस न था, स्वाद न था। शरीर के प्रति उदासीनता ही नहीं, चरम घृणा थी। घर चला तो आया, पर सूखकर टपका होकर! अम्मा ने कहा—नरेंद्र, आज तेरा मुख उदास क्यों देखती हूँ? क्या तबियत कुछ ख़राब हो गई है?

इस पर मैंने अम्मा को कुछ यों ही बतला दिया। झूठ-मूठ कुछ कह दिया।

परंतु कुछ ही दिनों में मेरी विरक्ति की चर्चा सर्वत्र फैल गई। जो कोई मिलता, वही पूछ बैठता—बिहारी बाबू, तुम्हें हो क्या गया है?

लोगों के इस तरह के प्रश्नों का उत्तर भी मैं प्रायः खीझकर दे बैठता था। कभी कहता—साँप ने काट खाया है, कभी कहता—कुत्ता सूँघ गया है।

परंतु इस दशा में आखिर मैं कब तक रहता? अंत में पछताकर अपनी इस अग्नि को किसी तरह प्रशांत रखकर मैंने जमकर अध्ययन में मन लगाया।

[४]

दिल्ली में देशी और ऐंग्लो-इंडियन खिलाड़ियों का मैच था। कानपुर से मैं भी चुनकर भेजा गया था। विजय-श्री का सर्वाधिक श्रेय अपने भीतर भरकर मैं उस दिन पंजाब-मेल से लौट रहा था। मेरे अन्य साथी तो पहले ही चले आए थे, पर मैं अपने मामा के यहाँ मेरठ चला गया था।

इस बार मैं केवल तीन दिन वहाँ रह सका। बैरिस्टर साहब के घर के अन्य सभी लोग मामा के घर आते थे। एक कुंद ही ऐसी थी, जो न आई थी। यह बात मेरे आने के कारण ही हुई थी, मैंने यह अच्छी तरह जान लिया था। जिस आकांक्षा को लेकर मैं वहाँ गया था, वह पूरी न

हो सकी। कुंद को बिना देखे ही मुझे निराश होकर लौट आना पड़ा।

वह भी मेरे जीवन का एक ऐतिहासिक दिन था।

मैं लौट तो आया, पर एक-एक क्षण मेरे लिये असह्य हो रहा था। आप ज़रा सोचें तो सही, जीवन के एक-एक क्षण के लिये संसार के कितने प्राणी भगवान् के आगे हाहा खाते हैं! मैं अपने जीवन के एक-एक क्षण में नारकीय यंत्रणा का अनुभव करने लगा था।

पंजाब-मेल हवा से बातें करता हुआ जा रहा था। खुरजा और अलीगढ़ के बीच में ट्रेन का दरवाज़ा खोलकर मैं किनारे ही बैठ गया। शौच होकर आया था। वहाँ बैठकर, मिट्टी मलकर हाथ धो रहा था। इसी समय मेरे मन में आया—यदि इस समय मैं गिर पड़ूँ, तो कितना अच्छा हो! यह जीवन सार्थक हो जाय।

इसी समय मैंने देखा, पास के ही डब्बे से किसी ने मेरी ओर देखा। उफ़्! वह और कोई नहीं, कुंद ही थी। बस, सचमुच मैंने स्वर्गीय सुख प्राप्त कर लिया। सचमुच ही मैं ट्रेन से गिरकर अचेत हो गया।

आह! वह दिन मेरे लिये सोने का था।

परंतु कहाँ? मैं उस स्वर्ग को कहाँ पा सका, जिसकी मुझे एकांत, एकमात्र आकांक्षा थी? इस जीवन का उत्सर्ग करके मैं नया जीवन चाहता था। परंतु परिणाम उलटा

हुआ। अपने इस जीवन को ही मुझे फिर अपनाना पड़ा। साथ में एक अभाव और मेरे शरीर से आ लगा—मैं लँगड़ा हो गया!

अंत में मैंने उस सुनयना से कहा—"मेरे इस जीवन का यही छोटा-सा इतिहास है।"

इस पर वह कुछ क्षणों तक मौन रही। मैं भी तब मौन ही था।

मैं अब उठकर चलने लगा। वह भी मेरे पीछे हो ली।

उसकी मुद्रा गंभीर थी, इसे मैं बड़े ध्यान से देख रहा था।

पीछे चलते-चलते उसने कहा—"सचमुच आपके जीवन का यह इतिहास बड़ा ही मर्मभेदी है। पर मेरा जीवन भी कम दुखी नहीं, इसीलिये मैं चाहती हूँ, हम लोग अपने-अपने दुःखों को भुलाकर परस्पर समझौता कर लें।

"क्या वास्तव में मैं अपने को ऐसा बड़भागी समझूँ?" एक स्थल पर हरी-हरी दूर्वा पर बैठकर मैंने कहा।

"हाँ, मेरी यही कामना है कि आप मुझे स्वीकार कर लें।" उसने कहा, और उसकी आँखें आँसुओं से तर हो उठीं।

फिर क्या था! मेरी दुनिया फिर सुनहरी हो गई। मेरा विवाह हो गया।

मैं अब कुंद को भूल गया।

[५]

मेरे रूमाल को बेल-बूटों से अलंकृत करते हुए एक दिन मेरी नव-भार्या ने मुस्किराते हुए पूछा—कुंद के विषय में अब तुम क्या सोचते हो ?"

"मैं अब उसके विषय में कुछ भी नहीं सोचता।" मैंने कहा।

"यह तो हो ही नहीं सकता।" उसने उत्तर में कहा—"मानव-प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल है यह। कुछ-न-कुछ तो तुम सोचते ही होगे। और न सही, उसके उस अशिष्ट व्यवहार के संबंध में तुम्हारी सम्मति तो कुछ होगी ही।"

"मैं उसके साहस की वंदना करता हूँ। मैं चाहता हूँ, हिंदू-कन्या का विवाह के पूर्व यही रूप हो।"

"तो क्या तुमको उसके उस अशिष्ट व्यवहार के प्रति कुछ भी कहना नहीं ?"

"न। वह अशिष्ट हो सकता है, पर सर्वथा अनुचित नहीं।"

वह बिहँसते हुए बोली—"वाह! तुमने यह ख़ूब कही! अशिष्ट तो है, पर अनुचित नहीं! अशिष्टता भी औचित्य-मय होती है! तुम अपने स्कूल में बालकों को यही पढ़ाते होगे, क्यों ?"

मैंने देखा, उसके लोम-लोम से उल्लास बिखर रहा है। उसी प्रकार हँसते हुए मैंने कहा—"मनुष्य के जीवन में ही खोजने पर ऐसे प्रसंग मिल सकते हैं।"

अब वह अवाक् रह गई!

और मैं भी सोचने लगा—मैंने यह कह क्या दिया !

उसने कहा—"मेरे पास एक अलबम है। तुम उसे देखना चाहो, तो निकाल दूँ ?"

मैंने कहा—"क्या उसमें कोई ख़ास बात है ?"

"ख़ास बात तो नहीं है ; यों ही मैंने कहा।" वह बोली।

"अच्छा, तो दिखलाओ।" मैंने कहा।

❀ ❀ ❀

अब वह अलबम मेरे हाथ में था।

उसका पहला चित्र देखकर मैंने कहा—"अरे, यह तो कुंद का फ़ोटोग्राफ़ है !"

"और उसके आगेवाले ?"

और आगे के फ़ोटोग्राफ़ देखने के बाद तो मैं और भी भौचक्का-सा रह गया।

ज्यों ही मैंने अपनी प्रियतमा की ओर देखने को सिर उठाया, त्यों ही देखता क्या हूँ, वह वहाँ से उठकर घर के भीतर चली गई है।

मिस्टर अग्निहोत्री बोले—"नरेंद्र अब भी अपनी लँगड़ी टाँग के विषय में कहा करता है, यह तो मेरे अपमान का भाग्य है !"

अपराधी के पत्र

[१]

रैन्-बसेरा, कानपुर
४।७।३३

रजनी,

उस दिन चलते-चलाते तुमने भी कह ही दिया--"दो-एक दिन और ठहर जाओ, दद्दा। तुम तो जब कभी आते हो, तब इतनी जल्दी चले जाते हो कि तुम्हारा यह इस प्रकार का आना एक सपना-सा हो जाता है।"

तुम्हारी इस बात को सुनकर मैं रुक तो गया दो दिन, लेकिन जानती हो, इसका मुझे क्या फल मिला? अब इस वर्ष मुझे कोई भी छुट्टी सवेतन न मिल सकेगी! विना पहले से छुट्टी स्वीकार कराए इस प्रकार दो दिन अनुपस्थित रहना नौकरी के लिये कितना बड़ा अपराध है, यह तुमने काहे को सोचा होगा, रजनी! लेकिन मैंने अपनी नौकरी के लिये यह अपराध, जानती हो, क्यों किया? अपने हृदय के संतोष के लिये। जान-बूझकर जो अपराध किए जाते हैं, उनमें एक प्रकार का संतोष रहता है। पर यह अपराध मुझे केवल संतोष ही नहीं देता, और भी कुछ देता है। संतोष तो, सच

पूछो तो, उसके लिये बहुत छोटी चीज है। अच्छा, तो फिर वह क्या देता है भला ? इस प्रश्न का उत्तर देना मेरे-जैसे व्यक्ति के लिये यद्यपि अत्यंत कठिन है, तो भी कुछ तो तुम्हें बतलाना ही चाहता हूँ।

तुमने देखा होगा रजनी ! कि अमा-रात्रि के बीचोबीच जब कोई इधर से उधर प्रयाण करता है, तब छोटे-छोटे जुगनू भी यदा-कदा अपना क्षणिक आलोक-अस्तित्व दिखलाकर ही अंधकार की कालिमा का कलेजा चीर देते हैं। सो मनुष्य के हृत्पिंड में भी जब कभी अमा-रात्रि का दुर्निवार अंधकार आकर बैठ जाता है, तब एक शुभ्र, प्रखर किरण-सी चमककर एक बार जो उसे झकझोर जाती है, वह मायाविनी चपला ही तो होती है। और, मानव-हृदय की यह चपलता ही तो उसके समस्त अपराधों की जननी होती है। उठो, चाहे न उठो, तुम्हारी मर्ज़ी; पर वह एक बार तुम्हें झकझोर तो जायगी ही। बस, यही दशा मेरे इस अपराध ने भी कर डाली है।

परंतु रजनी, यह तो मेरा बहुत छोटा-सा अपराध है। वास्तव में तुम्हारे सामने तो मैं बहुत बड़ा अपराधी हूँ। यही लो ; आज यह पत्र जो मैं तुमको लिख रहा हूँ, यह भी मेरा अपराध ही तो है। नहीं तो तुमको यह पत्र लिखने की ऐसी आवश्यकता ही क्या थी ! क्यों ? है न ऐसी ही बात ? तुम चाहे मानो, चाहे न मानो ; पर लौकिक दृष्टि से तो यह मेरा महा अपराध ही माना जायगा। और, आज

अपने महा अपराधों की चर्चा करने के उद्देश्य से ही मैं तुमको यह पत्र लिख रहा हूँ।

हाँ, तो आज जब अपने अपराधों की ही चर्चा करने बैठा हूँ, तब तुम्हारे आगे कुछ छिपाऊँगा नहीं। सभी कुछ कह डालूँगा। परंतु क्या तुम उन्हें सुनना चाहोगी? तुम चाहे न भी सुनना चाहो, पर मैं तो तुम्हें सुनाऊँगा ही। अधिक-से-अधिक यही होगा न कि तुम इसे न पढ़ोगी, या पढ़ोगी, तो तदनंतर इसे फाड़ डालोगी—टुकड़े-टुकड़े कर इसे फ़र्श पर बिखेर दोगी। बस, यही, इतना ही न करोगी। और, मैं यह सब पहले से ही सोचे लेता हूँ। तुम यदि इसे फाड़ भी डालोगी, तो भी मेरे लिखे काग़ज़ के टुकड़े तुम्हारे चरणारविंद की धूलि तो पा ही जायँगे, रजनी! मेरे इतने-से सौभाग्य को तो तुम मुझसे किसी प्रकार न छीन सकोगी।

याद है उस दिन की बात?—उसी दिन की, जब मैं तुम्हारे घर पहलेपहल गया था। मुझे आते देखकर अपने वामस्कंध की साड़ी अपनी कमलनाल-सी उँगलियों से खींचते हुए, ज़रा-सी संकुचित होकर तुमने कहा था—"अम्मा, अरी ओरी अम्मा, बिहारी दद्दा आए हैं।" अम्मा ने तत्काल कह दिया—"कौन? बिहारी! अच्छा!! इतने बड़े भाग हैं मेरे, जो वह मेरे घर आया! बैठाल उसको वहीं अपने कमरे में। मैं अभी आई।"

मैंने देखा, तुम लज्जा के मारे गड़ी-सी जा रही हो।

भोले बचपन के मीठे दिनों की प्यारी स्मृतियों के मृदुल समीरण से लहराकर तुम्हारा कमनीय कलेवर कंपायमान हो उठा है। सिमिटकर, झिझककर, अपनी अंतर्व्यापी दृष्टि को अपने आप में समाई रखकर, तुमने कहा था—"आइए, बैठिए।" ऊपर छत पर पक्के सीमेंट के, चिकने, पानी से तर, किंतु सूखे, ठंडे फ़र्श पर शीतलपाटी की चटाई पर तुम बैठी हुई थीं। तुम्हारे कहने के अनुसार मैं तो तुरंत बैठ गया; परंतु तुम खड़ी ही रहीं। पाँच-सात वर्षों से तुमको देखा न था। भाभी से इतना ही सुन लिया करता था कि तुम स्थानीय गर्ल्स-हाईस्कूल में पढ़ रही हो। परंतु उनके इतना कह देने से मैं यह नहीं जान सका था कि तुम अब पहले की वह चपल, प्यार के सलोने उलहनों से भीगी हुई, रजनी नहीं रही हो। जी में आया—कह दूँ, अरे! तू तो इतनी सयानी हो गई, रजनी! मैंने तो तेरे इस आकार की कल्पना तक न की थी। पर मैंने सोचा, यों ही तुम लज्जा के मारे गड़ी जा रही हो। तुमको अब और लजाना ठीक न होगा। क्यों, याद है न, उस दिन की बात? अरी, 'हाँ' न सही, तो ज़रा-सा 'ना' ही कर दे!

तुम्हारे यहाँ बैठे-बैठे, उसी समय, मैं यह अनुभव करने लगा था कि यहाँ आकर मैंने सचमुच एक अपराध ही किया है। और हाय! आज भी मैं यही सोचता हूँ कि मेरा वह तुमसे मिलना सचमुच एक अपराध ही था। परंतु वे दिन

ही और थे ! स्वप्नों के साँचों में ढली हुई वह दुनिया कैसी मृदुल थी, कैसी मनोहर !

चची के आ जाने पर तुम वहाँ से चली गई थीं। और, तुम्हारा उस समय वहाँ से उठकर चला जाना ही मेरे लिये विषाक्त हो गया। मैंने मन-ही-मन कहा—ओह ! तुममें इतना विराट् परिवर्तन ! वे दिन कहाँ गए, जब तुम मेरे कोट की जेबों में हाथ डालकर उनसे काजू-किशमिश दोनो मुट्ठियों-भर निकालकर उछलने लगती थीं। फिर मैं तुमको दुलराने के लिये तुम्हीं से उनके दाने माँग-माँगकर खाता था। और, जब तुम थोड़े-से ही दाने दे-देकर मुझे छकाने लगती थीं, तो धीरे से मैं तुम्हारे चपत जमा देता था। तुम मुझसे छूटने को भागने लगती थीं। मेरी गुदगुदी से छटपटाते हुए अलग होकर तुम कह उठती थीं—"जाओ दद्दा, तुम तो मुझे तंग करते हो !" और मैं तब तत्काल कहने लगता था—"अच्छा, सच-सच बतला तो सही, कौन पहले तंग करता है। मैं कि तुम ? और तब—तब तुम मेरी आँखों में अपनी आँखें भरकर एकदम से मुस्किरा देती थीं। पर तुम्हारे इस मौन, किंतु स्पष्ट उत्तर को भी मैं टाल जाता था। तुम्हारे पीछे पड़कर मैं तुमसे अपना अपराध स्वीकार कराए विना मानता नहीं था।

अरे, मैं तो दूर—बहुत दूर—गहरे अतीत में चला गया !

हाँ, तो उस दिन तुम्हारी मा, नहीं, मेरी चची, जो मेरे दादा की ससुराल में प्रायः आया करती थीं, मुझे अपने घर

ले जाने को जो सदा सचेष्ट रहा करती थीं, मुझे—अपने घर—इतने दिनों बाद आया हुआ पाकर, कितनी प्रसन्न हुई थीं, यह शायद तुम न जानती होगी, रजनी ! यह तुम्हारे जानने की बात भी तो न थी। इसे तो मैं ही समझता था। गरम, ताज़ी और चाँदी के वर्क़ लगी हुई पिस्ते की बरफ़ी, गुलाब-जल में सोया हुआ-सा खीर-मोहन और बढ़िया, ताज़ा चाप तीन तश्तरियों में सजाकर उन्होंने मेरे सामने, मेरी ख़ातिर को, उपस्थित किया। बोलीं—"मैं तुम्हारी ख़ातिर करने योग्य नहीं हूँ बिहारी, यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ। लेकिन बिना तुम्हें कुछ खिलाए मेरा जी भी तो नहीं मानता !"

इस आतिथ्य के सिलसिले में उन्होंने तुम्हें भी बीच-बीच में बुलाया; पर तुम आईं नहीं। तब उन्होंने आख़िर कह ही डाला कि यह तो तेरे वही दद्दा हैं रजनी, जिनसे मचल-मचलकर तू काजू-किशमिश ज़बरदस्ती छीन लिया करती थी। उस समय तुम आईं नहीं, यह तो ठीक है; पर तुम वहाँ से टल भी तो नहीं सकी थीं। मैंने देखा—किवाड़ों की ओट से, अपनी भाभी के साथ तुम भी निकट ही बैठी हुई हो। वैसे चाहे मैं यह बात न भी जान सकता, पर तुम्हारी भाभी की हँसी की खिलखिलाहट एक बार जब कानों में पड़ ही गई, तब मैंने सुना—तुम उनसे कह रही हो, हटो, जाने तो दो मुझे यहाँ से। तुम्हारी हँसी रुकेगी नहीं, और फिर तुम्हारे पास रहने से मुझे भी हँसना ही पड़ेगा।

थोड़ी देर बाद ही मैंने किवाड़ों की ओट से देखा, तुम्हारी और उनकी झकझोरी हो रही है। तुम्हारी भाभी कह रही हैं—"जाओ न, अम्मा बुलाती हैं वहाँ।" जान पड़ा, उन्होंने उसी समय तुम्हें आगे ज़रा-सा ठेल दिया था। किवाड़ ज़रा-सा खटका, और तुम्हारी साड़ी की ख़ुशनुमा किनारी भी झलक पड़ी!

हाँ, मैंने कहा—"चाची, मुझे तो इस समय ज़रा भी भूख नहीं।"

वह बोलीं—"भूख नहीं है, यह तो मैं जानती हूँ, पर मेरी इच्छा तो तुम्हें कुछ खिलाने की है।" और इतना कहकर वह मेरी ओर देखने लगीं।

मैंने फिर कुछ कहा नहीं। उनके आग्रह को मैं टाल भी तो न सकता था।

इसके बाद ?

इसके बाद पढ़ने-लिखने की दो-एक बातें करके मैं फिर चला आया।

बस, मेरी रजनी, उसी दिन से मैं तुम्हारे सामने अपराधी बन गया।

[२]

रैन-बसेरा, कानपुर
५ । ७ । ३३

हाँ, मेरी रज्जो,

दूसरी बार परसाल गर्मियों की छुट्टियों में फिर मुझे कार्य-वश लखनऊ जाना पड़ा था। बड़ी आशा लेकर मैं

कानपुर से चला था। प्रायः प्रतिदिन, पलँग पर लेटते ही, रात को सोने से पहले तुम्हारी वह लाजवंती रूप-रेखा सामने आ जाती थी। सोचा करता था, कुछ हो, अब की बार तुमको पढ़ने की यथेष्ट सामग्री दूँगा। फिर तो तुम्हारे मौन-भंग का पथ खुल ही जायगा। जीवन की ऊँची-नीची पगडंडियों पर तुमसे ख़ूब बहस करूँगा। देखूँगा, तुम कैसे नहीं सामने आती हो। लेकिन विभिन्न प्रकार की आशाओं को अपने अंचल में भरकर जब मैं लखनऊ पहुँचा, और मैंने भाभी से तुम्हारा हाल-चाल पूछा, तो उन्होंने कहा—"वह तो अपनी मा के साथ देहरादून चली गई है।"

अब ? अब मैं क्या करता, सिवा इसके कि मैं भी देहरा-दून चला जाता। अधिक पूछ-ताँछ उस समय मैंने उनसे नहीं की। अपने जी का चोर मुझे सशंकित जो कर रहा था। ख़ैर, फिर मैं लखनऊ ठहर न सका। उसी दिन सायंकाल की ट्रेन से कानपुर वापस आ गया। हाँ, चलते समय मैं तुम्हारा पता पूछना नहीं भूल सका।

भाभी ने ठहरने का बहुत आग्रह किया। बोलीं—"इतने दिनों में तो आए हो, फिर इतनी जल्दी क्यों जा रहे हो ?"

मैंने कहा—"यहाँ एक आवश्यक कार्य से, एक मित्र से मिलने आया था। पर वह अलमोड़ा चले गए हैं। अब मुझे भी कल वहाँ जाना है।"

उन्होंने कह ही दिया—"मुझसे बन रहे हो ! इस बार

रजनी को यहाँ न पाकर लौटे जा रहे हो। क्यों ?"

मैंने मुँह नीचा कर लिया।

एक बार सोचा, दो बार निश्चय किया कि स्पष्ट रूप से, दृढ़ता के साथ कह दूँ—यह क्या सोचती हो भाभी ! छिः ! लेकिन मेरी जिह्वा तालू में चिपक-सी गई। मैं कुछ कह न सका।

अब सोचता हूँ, अपनी स्थिति स्पष्ट रूप से व्यक्त न करके मैंने एक अपराध ही किया।

देहरादून में कई दिन रहा। कई दिनों तक तो तुमसे मिल तक न सका। सोचता रहा, तुमसे मिलने जाऊँ कि न जाऊँ। एक बार यह भी जी में आया, वापस ही लौट जाऊँ। पर जी न माना। तुम्हारे यहाँ चला ही गया। चाची ने पूछा—"कहाँ ठहरे हो बिहारी ? यहाँ क्यों नहीं आ जाते ? इतना संकोच करते हो ! यह तो ठीक नहीं।"

मैंने कहा—"संकोच काहे का चाची ? तुम यही तो चाहती हो कि मुझे कष्ट न होने पाए। सो मुझे वहाँ ज़रा भी कष्ट नहीं है।"

उन्होंने पूछा—"तो फिर इतने दिनों बाद क्यों आए ? उसी दिन क्यों नहीं आ गए ?"

मैंने कहा—'यों ही, कुछ काम ही ऐसा लग जाता रहा कि दृढ़ इच्छा रहते हुए भी आने का अवसर नहीं मिला।"

इस प्रकार उनका समाधान किया।

वे तीन दिन मैंने कैसे व्यतीत किए थे, यह तो मैं, या फिर वह अंतर्यामी ही जानता है। सरिता की जल-धारा जैसे अविच्छिन्न गति से प्रवाहित हुआ करती है, अपनी द्रुत गति के वेग में वह जिस प्रकार आगे-ही-आगे दौड़ती है, वैसे ही यह मानव-हृदय की अपराध-भावना भी है। एक बार जो इसके कलुष में डूब जाता है, फिर फिरकर नहीं देखता। मेरा भी यही हाल हुआ। तीन सप्ताह देहरादून में ठहरा रहा। तुमको पाकर मैंने अपने आपको भी खो दिया। एक समय वह था कि तुम्हारे घर जाते संकोच होता था, डर लगा रहता था कि कहीं कोई मेरी आँखों की भाषा पहचान न ले! और अब, उन दिनों, मैं प्रायः तुम्हारे निवास-स्थान पर ही बना रहा। कभी-कभी तो रात को होटल में सोने भी नहीं गया। ज़रा सोचो तो सही, मैं कैसा हो गया।

उन दिनों तुम्हारे साथ रहने का इतना अधिक अवसर पाने पर भी, सच पूछो तो, तुमसे अच्छी तरह खुल नहीं पाया था। जानती हो, क्यों? इसलिये कि नारी-प्रकृति के संबंध में मेरी कुछ भी अनुभूति न थी। मैं सदा यही सोचा करता था कि तुम्हारे हृदय में भी तो मेरे लिये कम स्थान नहीं। फिर मुझे अपनी ओर से तुम्हारे जीवन को अपनाने के लिये आतुर होने की क्या आवश्यकता? हाय! इसीलिये तुम्हारे अत्यंत निकट रहने पर भी मैं अंत तक दूर ही बना रहा।

भाभी ने मुझे बतलाया था कि तुम्हारी मा, अर्थात्

पूजनीया चाची, मुझे सचमुच उसी भाव से अपनाना चाहती थीं, परंतु तुम्हारे पिता सहमत न होते थे। वह कहते थे—"रजनी कला की भक्त है और बिहारी ठहरा एम्० एस्-सी०—विज्ञान का भक्त। दोनो का मेल कभी खा ही नहीं सकता।" पर कोई उनमे यह कहनेवाला न हुआ कि मैंने पहले बी० ए० ही किया था। वह तो जब मैंने देखा कि मुझे पढ़ानी पड़ती है गणित, तब बिना एम्० एस्-सी० किए मैं अपने पद पर प्रतिष्ठित कैसे रह सकता हूँ। इसलिये विवश होकर मुझे एम्० एस्-सी० की डिग्री प्राप्त करनी पड़ी।

एक दिन तुमने किसी विषय पर मुझसे विवाद करते हुए कहा था—"नियति ? मैं नियति की गति नहीं मानती। मैं तो कर्म और कर्तव्य की अबाध गति की क़ायल हूँ। मैं कहती हूँ, जिसे इस बात पर विश्वास न हो कि मैं उस पार जा सकूँगा, उसे चाहिए, वह एकदम कगार पर से नीचे कूद पड़े। जब तक हम कर्म में प्रवृत्त नहीं होते, तब तक हमें यह कभी न सोचना चाहिए कि विधि का यही विधान है—यही कर्म-रेख है। यह तो कायरों का काम है। और, जो कायरों की-सी प्रवृत्ति के पुरुष हों, उन्हें चाहिए, वे या तो मनुष्य के गौरव की रक्षा करें या मर जायँ।"

आज तुम्हारा यह ज्वलंत कथन मेरे सामने है। बोलो, अब तुम क्या कहती हो ? मैंने यह निश्चय कर लिया है कि मेरे लिये मृत्यु के सिवा और कोई जीवन की गति नहीं।

विवाद के समय मैं तुम्हारे उपर्युक्त तर्क पर हँस पड़ा था। मैंने कहा था—"तुम्हारा यह विचार व्यावहारिक नहीं। मैंने अनेक बार सोचा है कि आदर्शवाद व्यावहारिक होता भी नहीं। परंतु रजनी, मैं अपने हृदय की दशा तुम्हारे सामने कैसे रक्खूँ। तुम्हें कैसे समझाऊँ कि इस प्रकार के जीवन से तो मृत्यु ही भली है।"

उस दिन जब चलने को हुआ, तो तुमने कहा था—"तुम्हारा यह इस प्रकार का आना तो एक सपना-सा हो जाता है।" तुमने यह कह तो दिया; परंतु क्या यह भी कभी सोचा रजनी! कि काल-चक्र के अनंत आवर्तन में मनुष्य-जीवन की स्थिति क्या है। कितने चक्रवर्ती सम्राट् इस वसुमती पर आए और गए, कितने तेजस्वी पुरुषोत्तम इस वसुधा पर खेले और सोए; पर उनके जीवन की स्थिति विस्मृति के अगाध गह्वर में आज क्या है? आज वे भी तो एक स्वप्न के समान ही मानवात्मा की अंतर्ज्योति में यदा-कदा जगमगा उठते हैं। सो यदि मैं भी अपने जीवन को एक स्वप्न बना देना चाहता हूँ, तो क्या बुरा करता हूँ।

❀ ❀ ❀

कई दिन से यह पत्र लिखा रक्खा है। सोचता हूँ, तुमको भेजूँ या न भेजूँ। जी में आता है, इस तरह के पत्रों को तुम्हारे पास भेजना निरर्थक ही है। तुम्हारी रसमयी निद्रा में यह पत्र कहीं दुःस्वप्न होकर कोई व्याघात न उपस्थित कर दे,

तुम्हारे मदिर सुधा-पान को कहीं मेरी ये पंक्तियाँ विचलित न कर दें, तुम्हारी केलि-क्रीड़ा के अचेतन सरोवर में मेरे ये अश्रु-विगलित शब्द पाषाण-खंड की तरह गिरकर कहीं अपना प्रकंपित तरंग-जाल न फैला दें। यही सोचकर इसे अपनी जीवन-सहचरी डायरी में ही रख छोड़ता हूँ। और लोग पत्र लिखते हैं उत्तर पाने के लिये, परंतु यह अपराधी ये पत्र लिखता है उत्तर न पाने के लिये !

रात बहुत बीत गई है। एक बज रहा है। अब सोने जा रहा हूँ। देखो, एक क्षण के लिये इस अपराधी की ओर भी देख लेना। स्वप्न में मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा।

बोलो, एक क्षण को इधर देखोगी न ?

तुम्हारा—

बिहारी

झाँकी

[१]

प्रेमांकुर अभी-अभी सोकर उठा है। बड़ी रात तक नींद न आने के कारण इस समय भी उसकी आँखें किरकिरा रही हैं। वह अपने मकान के दुतल्ले पर, बाहरी बरामदे में, चुपचाप बैठा है।

सावन के दिन हैं। शस्य-श्यामल अरण्य में जैसे चटुल हरिणावली आंदोलित हो-होकर कभी-कभी चौकड़ी भरने लगती है, वैसे ही आज इस समय अनंत नीलांबर में धूमिल घनावली फुदकते हुए कुंजर-छौनों का भ्रम उत्पन्न कर रही है।

प्रेमांकुर निर्निमेष दृष्टि से उसी ओर देख रहा है। एकाएक उसके अंतस्तल में कुछ स्मृतियों का स्फुरण हो उठा। वह अकस्मात् कह बैठा—"अरे, सावन फिर आ गया!"

पिछले दस वर्ष—और उनके सावन।

वह अकस्मात् प्रफुल्ल के घर जा पहुँचा। इस पहुँचने में उसका कोई उद्देश्य नहीं। वह उधर यों ही टहलता हुआ जा रहा था कि प्रफुल्ल ने अपने मकान के छज्जे से उसे देख लिया—देख क्या लिया, उसे रोक ही लिया। बोला—"प्रेम! ए प्रेम! अरे सुनो, सुनो।"

एक भीना सौहार्द्र उसके प्रशांत मन पर उतर आया। एक अकल्पित उत्सुकता और मृदुल मनोरंजना के अंचल में बँधा हुआ-सा प्रेमांकुर वहीं, छिड़काव से अतिशय भीगी हुई सड़क के उसी स्थल पर, रुक गया।

गोरा और आकर्षक उसका मुख है। भीगती हुई मसों की श्यामता अभी जगी ही है, ज़रा-सी झलकने लगी है। न उठकर बैठी है, न कहीं चली-फिरी है। यों तो वह सदा ही प्रसन्न रहता आया है। पर वैसा प्रकृत प्रसन्न यदि वह कभी न भी हो, तो भी उसके प्रमुख दंत-युग्म कुछ ऐसे बन ही पड़े हैं कि सहज ही झलक पड़ते हैं—जैसे खद्योत हों, और दिन को भी रात बना देने की शरारत उन्होंने सीख ली हो!

झट से प्रफुल्ल प्रेमांकुर के सामने आ गया। किंतु वह एकदम यों ही नहीं चला आया; कुछ दूर से ही कहता हुआ भी आया—"अच्छे मौक़े से आए, भाग्यशाली हो, तो ऐसा। दादा कलकत्ते से हाँडी-भर रसगुल्ले लाए हैं। मैंने तुम्हारे हिस्से के अलग रख लिए हैं। चलो, खड़े क्यों हो?"

जी-भर रसगुल्ले उसने खाए। फिर तबियत बदलने को थोड़ा नमकीन भी मँगवाया। प्रफुल्ल ने इधर तीन-चार दिनों की अपनी बातें सुनाईं, और प्रेमांकुर ने हलके हाथों से उन पर समीक्षा की कतरनी साफ़ की। कभी ज़रा-सा हँस दिया, कभी थोड़ा बनाया, और कभी कह दिया—"तुम दुष्ट हो छ आने-भर, मूर्ख चार आने-भर, कमज़ोर पाँच आने-भर और

साहसी एक आने-भर। इस तरह न तो तुम पूरे बौड़म हो, न एकदम धूर्त। तुम तो मिडिलमैन हो!"

प्रफुल्ल प्रेमांकुर के इस कथन से खिलखिलाकर हँस पड़ा। फिर उसने अपनी दो बहनों से परिचय कराया। कहा—"यह मेरी छोटी सिस्टर है प्रेमांकुर भाई। इसका नाम है करुणा।—और करुणा, यह मेरे मित्र हैं प्रेमांकुर। पर इनको मैं केवल 'प्रेम' नाम से पुकारने का आदी हो गया हूँ। यह हज़रत इस नगर में बैडमिंटन के मशहूर खिलाड़ी हैं। और देखो, भाई प्रेम! यह दूसरी भी मेरी सिस्टर ही है—छोटे चाचाजी की एकमात्र कन्या। ताश खेलने की बड़ी शौक़ीन। आप मेरे इन चाचाजी से अभी परिचित नहीं। बड़े पक्के आदर्शवादी हैं वह। इसी कारण उन्होंने इसकी शिक्षा का प्रबंध अपने घर पर ही प्राइवेट ट्यूटर्स रखकर किया है। इसका नाम है उर्मिला।"

उस दिन फिर इतनी ही बातें हुईं। प्रेमांकुर झट से चला आया। फिर कई दिन तक उस ओर टहलने नहीं गया। अनमना-सा बना रहा।

उन दिनों उसका मन कुछ अस्थिर रहा। उस अस्थिरता में वह घर से बाहर नहीं निकला। निकला भी, तो सर्वथा एकाकी रहा। उसे कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। किसी से मिलने-जुलने की इच्छा जैसे सूख-सी गई थी। अधिकांश समय उसका घर ही पर बीत रहा था।

उधर उसके पिता जनार्दन बाबू उसके इस परिवर्तन से कुछ चकित, कुछ प्रसन्न और थोड़े जिज्ञासु-से हो रहे थे। सोचने लगे थे—अब इसमें गंभीरता आ रही है, और यह बात सचमुच अच्छी है; किंतु इस गंभीरता में उल्लास सोया हुआ-सा क्यों रहता है ? यही समस्या सदा उनकी चिंता का विषय रहती थी। उधर प्रेमांकुर सोचा करता—उर्मिला ! वह मयूर-कल-कंठिनी—वह अनंगलता-सी शोभन—उर्मिला !

उस दिन की बातें क्या भुलाने की हैं। करुणा विवाहिता है। तरल, प्रशांत उसका मानस है। हँसती-सी ही सदा रहती है। उसके भीतर कहीं कोई रंध्र नहीं, वह कहीं से कुछ कांक्षा नहीं रखती। उसका कोना-कोना जैसे सजग, पुलकित है। तृषा की वहाँ गति नहीं, लिप्सा के लिये वहाँ स्थान नहीं, प्रेरणा नहीं। जाग्रत, तेजोमय, पवित्रतम नारी-हृदय का वह एक अलौकिक रूप है। किंतु उर्मिला ? उसने नमस्ते करते हुए एक बार पलक उठाकर देखा और बस, उसकी दृष्टि उसके हाथ की पुस्तक के कवर पर जम गई। स्वप्न-से अकल्पित मिलन की यह विस्मय-विदग्धता, प्रशांत धारा के बीच यह आकस्मिक भ्रमि संपात, मानो भोली मृगछौनो की लज्जाशीलता का चरम उत्थापन।

प्रेमांकुर सोचता—वह उधर घूमने गया ही क्यों ? गया भी, तो प्रफुल्ल ने उसे अकस्मात् क्यों रोक लिया ? फिर वह उसके यहाँ गया, उसने खूब खाया-पिया, और... । यह सब एक

साथ, एक ही दिन, व्यर्थ ही, अप्रत्याशित रूप से होता ही क्यों गया ?...फिर सोचता—किंतु ऐसा तो होता ही रहता है। मुख्य बात तो यह है कि उर्मिला अभी से उसके लिये सोचने की, आत्ममंथन की, विलोल कल्पना की, असंयत विवशता की, प्रतिमा क्यों हो ? यह तो अपने ही मन का कलुष है। अभी तक दबा रहा है, और आज संयोग पाकर भड़क उठा है।

ओह ! तो यह प्रेमांकुर अपने नाम की कालिमा है—लंपट, नीच, निर्लज्ज । और उर्मिला एक शब्द-मात्र है—रस-हीन, प्राण-हीन !

प्रेमांकुर अपने आप ही से उलझ पड़ता। वह अपने विश्वासों का लौहस्तंभ है, सिद्धांतों का पुजारी। यदि उसका मन उसकी आत्मा के विरुद्ध जायगा, तो वह ऐसे मन को कुचल डालेगा। अनुशासन के शैथिल्य को वह कभी पनपने नहीं देगा।

पिता ने देखा, प्रेमांकुर आज रामायण पढ़ रहा है। वह मन-ही-मन कहने लगे—वाह ! तब तो मेरा प्रेमांकुर धर्मांकुर बनेगा ! भगवान की लीला !!

[२]

कानपुर ने पीछे की ओर कभी नहीं देखा, वह सदा आगे ही बढ़ता आया है। सांसारिक वैभव में, उत्तर-भारत में, जैसे वह अपने आगे किसी को नहीं देखता। उसका धार्मिक उत्कर्ष

भी वैसा ही गौरवमय है। सावन में यदि कभी भूले-भटके कोई इस नगर में रह जाय, उन दिनों विशेषकर, जब वहाँ झाँकी-प्रतियोगिता चला करती है, तो वह क्षण-भर के लिये, भगवान् कृष्ण की लीला-भूमि—मथुरा-वृंदावन के झूला-उत्सवों—को भी भूल सकता है।

विनय ने कहा—"चलो प्रेम, तुम्हें झाँकी दिखा लावें। मज़ा आ जायगा। सच।"

"माफ़ करो दादा, मेरा आज का प्रोग्राम चौपट न करो। प्रोफ़ेसर मल्लिक ने वैष्णव कवियों पर एक निबंध लिखने का आदेश किया है।" प्रेमांकुर ने उत्तर दिया।

"उसे कल कर लेना, माई लव" विनय ने जैसे ही कहा, वैसे ही प्रेमांकुर उसे अस्त-व्यस्त प्रतीत हुआ। उसने उत्फुल्ल मन से उत्तर दिया—"बड़े दुष्ट हो तुम!"

विनय बोला—"ठीक तो है। लेकिन अंतर इतना ही है कि जल्दी में उलटी बात कह गए हो। विनय कभी दुष्ट नहीं होता, वह तो प्रेम ही हुआ करता है। युग-युग का मानव-शास्त्र पुकार-पुकारकर यही कह रहा है।"

दोनो इस भाँति बिहँसते हुए झाँकी देखने चल खड़े हुए।

सहस्रों व्यक्ति आ-जा रहे हैं। स्त्रियाँ तो हैं ही, बच्चे और बूढ़े भी कम नहीं। और युवक? उनकी न पूछिए। ज़माना ही उनका है।

बात-की-बात में दोनो एक मंदिर के निकट जा पहुँचे।

इसी क्षण किसी का मृदुल स्वर प्रेमांकुर के कर्ण-रंध्रों में जा पड़ा—"ए प्रेम भैया। ज़रा ठहरो।"

प्रेमांकुर ठहरकर विस्मयाकुल दृष्टि से इधर-उधर देखने लगा। तुरंत एक ओर उसने देखा—वह करुणा है और उसके पीछे कोई और भी—कुछ सिमटा हुआ-सा, झीनी-झीनी लज्जा में समाया हुआ-सा। जैसे कोई शतदल क्षण-भर पहले तो सलिल-राशि के कुछ ऊपर अवस्थित हो, किंतु फिर देखते-देखते थोड़ा लटककर मृणालिनियों के अंचल में लुका-छिपी करने लगा हो।

निकट आने पर करुणा बोली—"आए नहीं फिर? दद्दा से कहलाया भी तो था। उन्होंने कुछ कहा नहीं?"

उसकी मुद्रा में उत्सुकता थी, उसके स्वर में स्नेह-संकोच।

प्रेमांकुर ने अविचल भाव से, धीरे-धीरे कहा—"हाँ, कहा तो था, पर उधर आने का कोई प्रयोजन ही नहीं निकला। इसी से..."

यद्यपि उसकी निखिल शब्दावली नपी-तुली थी, स्वर भी उसका शांत था, फिर भी करुणा ने लक्ष किया—इस स्वर और मुद्रा में यह विच्छेद कैसा? जान पड़ता है, ये शब्द अंतस्तल से भिन्न हैं, जान-बूझकर निर्वासित किए गए हैं! तब उस कौतुक-प्रिय करुणा ने झट से उत्तर दिया—"तो भी जब मैंने बुलाया था, तब मेरे निवेदन की उपेक्षा भी तो

आपका प्रयोजन न था। किंतु जान पड़ता है, आप नाम के ही..."

आगे के शब्द करुणा कह न सकी, लज्जा की अरुण आभा उसके कपोलों पर झिलमिलाने लगी।

प्रेमांकुर जैसे स्वप्नाविष्ट हो उठा। उसके मन-प्राण को जैसे किसी ने ऐसा मसल डाला हो कि वह एकदम चेष्टा-हीन-सा हो उठा हो। उत्तर देना तो दूर, वह अपनी दृष्टि को समुन्नत तक न रख सका।

प्रेमांकुर को इस प्रकार निष्प्रभ कर डालने का अभिप्राय, करुणा का, कदापि न था। फिर भी वह बात जब स्वर में अवतरित हो ही उठी, तो वह करती क्या? तो भी उसने अपने आप—और साथ ही प्रेम—को भी सँभालते हुए कहा—"मैं कहना कुछ और चाहती थी, पर कहने लगी कुछ और। लेकिन नहीं, मुझे आशा है, आपको मेरे ये शब्द प्रिय ही प्रतीत होंगे। क्यों? खैर, अब आप कल अवश्य आइए।"

वह अधिक वार्तालाप का स्थल नहीं था। अतएव करुणा अपनी मंडली के साथ आगे बढ़ गई। प्रेमांकुर डूबने-उतराने की-सी स्थिति में था। एक ओर मदिर संशय की चपल ज्योति उसकी अंतरात्मा को एक अटूट आत्मीय बंधन के आलोक में आलोकित कर उठती, तो दूसरी ओर अनिश्चित भविष्य के अमांगलिक संकेत से उसका रोम-रोम आतंकित हो उठता। ज्वार के ऊर्ध्वमुखी जल की भाँति एक बार ज्यों

ही उसकी आशा-तरंग असीम उन्नत हो जाता, त्यों ही उतार में उसके हृदय का स्पंदन तक अवरुद्ध हो जाता, उसकी अंतर्ज्योति ही जैसे प्रशांत होने लगती।

किंतु उस समय प्रेमांकुर वैसा एकाकी न था, उसके साथ विनय भी तो था। तब वह अधिक देर तक ऐसी संकटापन्न स्थिति में, ऐसे समुद्र-मंथन में, कैसे रह सकता था।

करुणा अभी आगे बढ़ी ही थी कि विनय ने पूछ दिया—"यह कौन थीं प्रेम ?"

प्रेमांकुर चाहता, तो, अपने अभ्यास के अनुसार, एक बार तो उसके इस प्रश्न को टाल ही जाता, पर वह नहीं चाहता था कि विनय को यह समझने का भी अवसर मिले कि इस घटना से वह किसी प्रकार क्षण-भर को भी अभिभूत हुआ है।

उसने कह दिया—"यह ? तुम इन्हें नहीं जानते ? यह प्रफुल्ल की बहन हैं।"

विनय ने आश्चर्यान्वित होकर कहा—"प्रफुल्ल की बहन !"

प्रेमांकुर—"हाँ-हाँ, प्रफुल्ल की बहन। तुमको इसमें आश्चर्य क्यों हो रहा है ?"

विनय बोला—"आश्चर्य की बात ही है। अभी इसकी अवस्था ही क्या है ? पर कविता यह बड़ी मनोहर लिखती है।"

"ओह ! तभी। मैं यह भूल ही रहा था कि कवि होने के कारण तुम इनसे परिचित भी हो सकते हो। तो यह कहो कि तुम इनको जानते थे। मुझे बना रहे थे।"

प्रेमांकुर इस समय जो इतनी बातें कर रहा है, इसका कारण है। वह नहीं चाहता कि इस समय, इस विनय के साथ चलते हुए, किसी प्रकार के विमर्ष में पड़े। इसीलिये वह वार्तालाप को सीमित न रखकर जान-बूझकर उसे बढ़ा रहा है। जैसे उसने समझ रक्खा है कि मनुष्य का यह मन भी एक खिलौना है। चाहो, तो उसके साथ खेल भी सकते हो।

"नहीं-नहीं प्रेम। ऐसी बात नहीं। हाँ, इनकी लिखी कुछ कविताएँ मैंने अवश्य पढ़ी हैं। शायद इनका नाम करुणा है।"—विनय ने प्रकृत स्वर में ही कहा। किंतु उसके मुख से 'करुणा' का नाम सुनते ही प्रेमांकुर उसके पीछे छिपती हुई एक छाया को कल्पना-दृष्टि से स्पष्ट देखने लगा। उसे प्रतीत हुआ, जैसे उस लुका-छिपी में भी अकस्मात् उर्मिला की उन्मीलित पलकों में उसके नयनों का संकेत-संलाप हो ही गया है।

इसी क्षण विनय हँस पड़ा। वह बोला—"किंतु आज तुम यहाँ पकड़ ख़ूब गए। मैंने ठीक ही कहा था—प्रेम दुष्ट होता है। और देखता हूँ, तुम अपनी दुष्टता से बाज़ नहीं आए। बुलाने पर भी नहीं गए। क्या मैं इसका कारण जान सकता हूँ?"

प्रेमांकुर जैसे अपने भीतर के सारे मर्म को इस विनय में, इस समय, नितांत स्पष्ट रूप से देख रहा है, वैसे ही वह स्वतः भी इस समय इसी विनय के भीतर उलझा हुआ है। वह सोचता है, करुणा के संबंध में विनय जो इस सीमा तक संबोध-समन्वित देख पड़ता है, यह अकारण नहीं। इसमें

कहीं-न-कहीं, घुमा-फिराकर, थोड़ी-बहुत लालसा अवश्य है। अतएव प्रेमांकुर ने कहा—"बात यह है विनय बाबू, करुणा ठहरी कवयित्री और इधर मैं हूँ व्यवहार-वादी, एकदम शुष्क; एक कल्पना की रानी, दूसरा कर्म का पुजारी। दोनो का कैसा सामंजस्य? हाँ, मेरे स्थान पर कहीं तुम होते, तो तुम्हारा साहचर्य कुछ रंगीन हो भी सकता था।"

प्रेमांकुर कहते तो कह गया, पर पीछे अपने इस कथन का उसे अनुताप भी हुआ। अतएव विनय को आगे कुछ भी कहने का अवसर न देकर प्रकृत स्वर में उसने कहा—"किंतु, इन बातों में कुछ भी सार नहीं। असल बात जो है, तुम उसे जानते ही हो। इन दिनों मैं व्यस्त कितना रहा हूँ। आज भी तुम्हारे साथ चले आने में थोड़ा हर्ज ही हुआ। इसीलिये...। हाँ, और क्या?"

विनय ने लक्ष किया, प्रेम कुछ अस्त-व्यस्त हो उठा है।

अब मंदिर की सीढ़ियों पर दोनो चढने लगे।

[३]

जनार्दन बाबू गंभीरता-पूर्वक कुछ बातें कह रहे थे—"अब मैं और अधिक ठहर नहीं सकता। कितने लोगों को आज-कल पर टाल रहा हूँ। आज अभी निश्चय करके बतला दो, किसको स्वीकार कर लिया जाय? सारी बातें तुम्हें मालूम ही हैं। सभी एक-से-एक श्रेष्ठ कुल-मर्यादा के लोग हैं। जिसको कहो, उसी को। सुन रहे हो न? रही

बात लड़की देख लेने की। सो तुम्हारी बहन इसमें काफ़ी प्रवीण है। वह देखकर पसंद कर लेगी। तब तो तुमको कोई आपत्ति न रह जायगी ?"

पर प्रेमांकुर चुप है। जैसे उसने या तो पिताजी के शब्द सुने ही नहीं, या सुने भी हैं, तो उनका उसके आगे कोई अर्थ नहीं; क्योंकि वह गत सावन के एक दिन को देख रहा है।

करुणा आज अतिशय प्रसन्न देख पड़ती है। अभी-अभी उर्मिला और प्रफुल्ल को एक पक्ष में करके वह प्रेमांकुर के साथ ताश खेल चुकी है। उसमें प्रेमांकुर बराबर हारता गया है। पर इस हार में भी वह कभी गंभीर नहीं हुआ। ओह! कितना सुलझा हुआ उसका मन है।

इस समय प्रफुल्ल से अचानक कोई व्यक्ति मिलने आ गया है, और ऐसा जान पड़ता है कि वह अभी देर तक उससे बातें करने के लिये विवश हो गया है।

करुणा प्रेमांकुर से अभी-अभी कुछ बातें पूछ चुकी है, और उन बातों में उसने बड़ा संतोष पाया है। अतएव वह अब अपने संकल्प पर आ रही है। कभी इधर जाती है, कभी उधर। जान पड़ता है, वह कुछ भूल रही है; या किसी चीज़ की तलाश में है। हो सकता है, किसी की बाट जोहती हो।

क्षण-भर में उर्मिला उसके निकट आ गई। और, वह उसे देखता रह गया; क्योंकि इस समय वह न ज्यादा शरमाई, न

ऊपर से कुछ संकुचित हुई। हाँ, उसकी नतमुखी कनखियों में आवेग की छाया कुछ अवश्य लक्षित हुई।

करुणा कहने लगी—"मैं शीघ्र ही चली जाऊँगी, फिर क्या जाने कब आना हो। वह ऐसी जल्दी, ऐसे-वैसे साधारण काम से मुझे भेजते भी नहीं। वह तो कहो, उनको इधर ही कुछ काम आ पड़ा था। मैं भी ज़बरदस्ती उनके साथ हो ली। इधर से गुज़रते हुए वह मुझे यहाँ छोड़ गए। फिर वापसी में मेरा मन न देखकर और भी कुछ दिन को छोड़ जाने को विवश हो गए। ख़ैर, ये बातें तो मैंने यों ही कह दीं। असल बात कुछ और है। मैंने इतना समझ लिया है, समझ क्या लिया है, सच बात तो यों है कि मुझे निश्चय-सा हो गया है कि..."

यहाँ करुणा फिर रुक गई।

इस क्षण प्रेमांकुर के हृदय की गति तीव्र हो उठी।

* * *

जनार्दन बाबू भी अपने स्वर को थोड़ा और तीव्र करके कह रहे हैं—"तुम आख़िर इस तरह मौन क्यों? तुम्हारे कंठ नहीं है या भाषा नहीं? मुँह से कुछ कहना नहीं चाहते, तो काग़ज़ पर लिखकर तो बता सकते हो।...लेकिन मैं आज तुमसे स्पष्ट रूप से पूछ लिए बिना मानूँगा नहीं। तुम्हें आज बताना ही पड़ेगा।"

प्रेमांकुर देखने को चुप है; पर उसके सामने कुछ और भी तो है। कुछ जीवित चित्र हैं, और साथ में किसी का प्राणमय

स्वर । ऐसी स्थिति में हम उसे चुप कैसे समझें। मुँह से कुछ कह देने को ही क्या उत्तर मान लिया जाय? जो उत्तर मौन रहकर दिए जाते हैं, उनका जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं है? मौन उत्तर से अर्द्ध-स्वीकृति मान लेने की परिपाटी चिरकाल से चली आती है, कौन इसे नहीं जानता? लेकिन क्या इस विचार का अपवाद उत्तरदाता के आनन पर कभी मुखरित नहीं होता? कौन-सा मौन अर्द्ध-स्वीकृति का द्योतक होता है और कौन-सा पूर्ण स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का, यह भी क्या पूर्णतया अलक्षित ही रहता है? तब उत्फुल्ल और उद्विग्न आनन का भावांकन प्रेमांकुर के इस क्षण में ही ऐसा चरम अभिन्न क्यों हो गया है?

❀ ❀ ❀

हाँ, करुणा ने उत्साह-पुलकित मुद्रा से कहा—"तुम दोनो परस्पर असीम प्राणमय हो उठे हो। इसलिये मेरी बड़ी इच्छा है कि लौकिक विवाह चाहे जब हो, अलौकिक विवाह मैं तुम्हारा आज ही कर दूँ।" उस समय उर्मिला के नयन तंद्रिल-से हो उठे। क्षण-भर तक वह स्थल नीरव रहा।

ओह! उस आनंद की भी कोई सीमा है! वह जैसा अकल्पित है, वैसा ही ऐंद्रजालिक। युगल जीवन का वह ओत-प्रोत होना मानो दिवस और रजनी का सांध्य मिलन हो। और, उस क्षण की वह नीरवता तो मानो माया और ब्रह्म की अभिन्नता के संधान में लीन हो रही हो!

करुणा ने फिर उल्लसित मन से कहा—"तो उर्मिला, वह माला अपने प्रेम के गले में डाल दे।"

अब करुणा ने उर्मिला का हाथ बढ़ाकर कहा—"और प्रेम, तुम इसे ग्रहण करो।"

"हाँ, बस। भगवान् करे, तुम्हारा यह मिलन युग-युग तक अटल-अविचल बना रहे।--तुम परस्पर वैसे ही स्नेह-विजड़ित रहो, जैसे क्षीर-नीर रहता है। संसार की कोई शक्ति तुम्हारे इस मिलन में विच्छेद न डाल सके।"

* * *

प्रेमांकुर अब मौन न रह सका। बोला—"इन लोगों के सिवा और भी तो प्रस्ताव आपके पास आए होंगे।"

जनार्दन बाबू ने कहा—"हाँ, आए हैं। किंतु वे नगण्य हैं। उनमें से एक नंदगोपालजी का है। लेकिन यह संबंध कैसे हो सकता है? इस वंश के साथ हमारा विरोध तीस वर्ष पहले से चला आता है। इन्हीं नंदगोपालजी के पिता ने शायद एक विधवा से ब्याह किया था, हालाँकि उससे कोई संतान नहीं हुई। पीछे से इसी वंश में हमारे वंश के साथ एक संबंध और हुआ। उसी समय से उन लोगों के साथ हमारा विच्छेद हो गया। ऐसी दशा में उसी घर में फिर यह संबंध कैसे हो सकता है?"

"तब अन्य किसी के यहाँ मेरा विवाह नहीं हो सकता।" कहते हुए जब प्रेमांकुर बाहर जाने लगा, तो जनार्दन बाबू

रोकते हुए बोले—"ठहरो। मैं कहता हूँ, ठहरो। दो बातें और सुनते जाओ।"

अंतिम शब्द कहते-कहते जनार्दन बाबू का स्वर अतिशय कर्कश हो गया। एक तितिक्षा-हीन वितृष्णा-सी उनकी आरक्त मुद्रा पर आच्छन्न हो उठी।

प्रेमांकुर ठहर गया।

जनार्दन बाबू ने कहा—"तो अब मेरी ज़िंदगी में तुम्हारा ब्याह न हो सकेगा। इसके सिवा आज से इस घर की सुई-सी चीज़ को भी तुम अपनी न समझ सकोगे। मैं देखना चाहता हूँ, मेरा विरोध करके तुम किस तरह रहते हो?"

"यह तो बड़ी अच्छी बात है पिताजी! मैं आज ही से बल्कि इसी समय से आपको, इस घर को, इस पावन भूमि को सदा के लिये नमस्कार करके जा रहा हूँ। मुझे भी देखना है कि आपको समाज की ये रूढ़ियाँ कितनी अधिक प्रिय हैं, और आप कब तक उनके अस्थिपंजर को जीवित रख सकने का दम रखते हैं।" कहकर प्रेमांकुर चल खड़ा हुआ। उसकी मा ने उसे बहुत कुछ समझाया, पर वह किसी प्रकार रुक न सका।

[४]

उसका कोट अब जवाब दे रहा है। पैंट तो बिलकुल फट ही गया है। एक धोती पर वह किसी प्रकार निर्वाह कर रहा

है। क़मीज़ दो दिनों में ही सीढ़ और पसीने के कारण दुर्गंध देने लगती है।

कानपुर से हटकर वह अब बनारस चला आया है।

वह पंद्रह-पंद्रह रुपए महीने के दो ट्यूशन भर कर रहा है। इस वर्ष हिंदू-विश्वविद्यालय में बी० ए० में उसका अंतिम वर्ष चल रहा है। विनय यहाँ भी उसका साथ दे रहा है।

उर्मिला का पत्र आया है। प्रेमांकुर उसको बार-बार पढ़ता है। पढ़ते-पढ़ते कभी-कभी उसकी आँखें भर आती हैं।

उसने लिखा है—

"मेरे प्राण,

तुम कहा करते थे—जीवन में अपार अमृत है; लेकिन उसे खून से, पसीने से और आँसुओं से उत्पन्न करना होता है। उस समय तुम्हारी यह बात मैं समझ न सकी थी। आज इसका मर्म मैंने जाना है। लेकिन...लेकिन... जाने दो, उस बात को। इधर लेखनी लिखना नहीं चाहती, उधर आँखें भी उसी का साथ देने को आतुर हो उठती हैं। पर उसे बिना स्पष्ट किए मेरे ये प्राण भी तो मुझे न छोड़ेंगे।

हाँ, तो मैं लिखना चाहती थी कि तुम यह तपस्या व्यर्थ कर रहे हो। क्यों नहीं पिताजी की बात मान लेते? अब तुम मोह किसका कर रहे हो? इस प्राण-पंछी का, जो उड़ना ही चाहता है अब?—इस बहते हुए जीवन-सलिल का, जिसे

अब तुम दौड़कर भी नहीं पा सकते; क्योंकि वह निर्बंध है—उसे कोई रोक नहीं सकता।

शायद यह अंतिम पत्र हो, इसलिये तुम्हें इन आँखों में और भी एक बार सदा के लिये रख लेना चाहती हूँ।

सदा तुम्हारी—

उर्मिला"

* * *

कई दिन से जनार्दन बाबू अचेत पड़े हैं। अनेक कुटुंबी-जन, डॉक्टर और वैद्य उन्हें घेरे रहते हैं।

कल प्रेमांकुर की बहन राधा अपने पति के साथ आई है। साथ में उसके बच्चे भी हैं। प्रेमांकुर के फूफा उसकी बुआ को लेकर आज कई दिन से आए हुए हैं।

जनार्दन बाबू कभी-कभी जब सचेत होते हैं, तो अपने निकट बैठे हुए व्यक्तियों की मुखाकृतियों को ध्यान-पूर्वक देखते हैं। किसी को खोजते से हैं। फिर अपनी श्रांत दृष्टि वापस लेकर साश्रुनयन हो उठते हैं! कभी शीतल निःश्वास छोड़ते हैं; कभी अस्पष्ट स्वर में कहने लगते हैं—"वह कैसे आवेगा? हठी पिता का बालक है न, पत्थर की तरह दृढ़।... ओह! कोई कुछ नहीं करता, कर ही नहीं सकता। सब कुछ जैसे पहले से ही निश्चित रहता है।...परंतु तुम आओगे प्रेम। यहाँ तुम आओगे; लेकिन अभी नहीं, तब आओगे, जब...। ऐं! क्या आ गया! तो आओ! आओ!! आओ!!!"

लोग आश्वासन देते हैं—"तार दिया जा चुका है। उत्तर में उसका तार भी आ गया है। वह अब आने ही वाला है।"

पर प्रेमांकुर सचमुच उसी समय आ सका, जब कुछ लोगों के मन में एक प्रश्न उठा—"तो इनका संस्कार कौन करेगा ?"

❀ ❀ ❀

"चलो अम्मा, आज हम तुमको घुमा लावें। ऐसी-ऐसी झाँकी दिखा लावें कि तुम्हारी तबियत प्रसन्न हो जाय। हाँ, सच !"

"तो चलो।"

मा को लेकर प्रेमांकुर झाँकी दिखला रहा है। किंतु बीच-बीच में वह अपने आप ही उद्विग्न हो उठता है। मंदिरों की ओर जाते-जाते उसके पैर कहीं-कहीं रुक-से जाते हैं। वह स्वप्नाविष्ट-सा हो उठता है। सोचता है—यही वह स्थल है, जहाँ विनय ने वह बात कही थी, और यहाँ अकस्मात् करुणा से साक्षात्कार हुआ था।

कुछ झाँकियाँ दिखला लेने के पश्चात् वह एक कोठी के निकट आ गया। "यहाँ भी एक झाँकी है अम्मा, चली आओ, चली आओ अम्मा"—कहते हुए वह उस कोठी के भीतर बढ़ता ही चला गया। अंत में मा को साथ लिए वह एक ऐसे स्थल पर आ खड़ा हुआ, जहाँ उर्मिला तकियों के सहारे बैठी हुई थी।

प्रेमांकुर और उसके साथ एक वृद्धा को देखकर उर्मिला जब कुछ अस्त-व्यस्त-सी होती हुई देख पड़ी, तो प्रेमांकुर की

मा ने लक्ष किया। बोली—"बैठी रहो बेटी। तुम बीमार जो हो।"

बात-की-बात में वहाँ उर्मिला की मा, भाभी, करुणा (संयोग से वह भी आ गई थी) तथा उसकी दासी, सब-की-सब एकत्र हो गईं। आदर के साथ दोनो को बैठने के लिये आसन दिए गए।

प्रेमांकुर को मा ने देखा, युवती अभी कुमारी ही है। चंद्रिका-सा उज्ज्वल उसका मुख है; किंतु शरीर के रूप में केवल अस्थि-पंजर ही अवशिष्ट है। तो भी इस छाया की काया, इस खँडहर का निकेतन, इस अस्तंगत प्रतिध्वनि का निनाद और इस वर्तमान का अतीत कैसा रहा होगा, इसका अनुमान कौन नहीं कर सकता ?

इतने में प्रफुल्ल भी आ गया। प्रेमांकुर को निकट देखते ही बोला—"ओह ! तुम तो एकदम से बदल ही गए प्रेम। यह कैसा रूप बना रक्खा है !"

प्रेमांकुर हँसकर बोला—"ठीक तो है। मेरे रूप में कभी कोई भी बनावट तो तुमने पाई न होगी।"

"हाँ, सो तो ठीक कहते हो।" प्रफुल्ल ने उत्तर दिया।

"तो बस, इतना ही यथेष्ट है। जैसा कुछ हूँ, वैसा ही व्यक्त भी होना चाहता हूँ।" प्रेमांकुर कह गया।

फिर सब स्त्रियों की ओर देखकर उसने कहा—"यह मेरी मा हैं।"

प्रेमांकुर के इतना कहते ही सभी की आकृतियों पर उनके प्रति श्रद्धा का भाव मुखरित हो उठा। सभी ने उनका अभिवादन किया।

प्रेम की मा को यह समझने में देर न लगी कि वह कहाँ आ गई है। फिर भी प्रेमांकुर ने उर्मिला की ओर संकेत करते हुए कहा—"यह भी एक झाँकी है अम्मा। है न ?"

तदुपरांत वह ठट्ठा मारकर हँस पड़ा। साथ ही खूब जोर-जोर से चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा—"कैसी अच्छी झाँकी दिखलाई! एकदम सच्ची!! ऐसी उत्तम झाँकी क्या तुमने कभी देखी है अम्मा ? बोलो! बोलो!!"

सभी की दृष्टि प्रेमांकुर पर थी। अब वे सब परस्पर सशंक, विस्मयाकुल मुग्ध और आर्द्र लोचनों से प्रेमांकुर की ओर देखने लगे।

प्रफुल्ल बोला—"मैंने तो देखते ही लक्ष किया था।"

कुछ रोती-सिसकती और कुछ सँभलती हुई करुणा प्रेमांकुर के निकट आकर कहने लगी—"तुमको यह हो क्या गया है प्रेम ? जान पड़ता है, तुम्हारा जी ठीक नहीं है।"

विकार-हीन मुख पर ज्वलंत आभा झलकाते हुए प्रेमांकुर बोला—"नहीं तो करुणा, ऐसा भी क्या कभी हो सकता है! कभी नहीं। प्रेम कभी विकृत नहीं होता—वह सदा एकरस रहता है। लोग भले ही उसे समझने में भ्रांत हो उठें।"

त्याग

[१]

"कल जब मेरे बाएँ पैर की पिंडुली का ऑपरेशन हुआ था, तब तुमने देखा था कि नहीं? वह आए थे। ठिंगने शरीर के होंगे, बैंजनी रंग की नेकटाई रही होगी। चश्मा सफ़ेद सिलोलाइट फ़्रेम का लगाए रहे होंगे।" अलकनंदा ने कहा। उसका मुख आंतरिक वेदना से मुरझाया हुआ था। उसकी आँखों के नीचे, पलकों में, कालिमा छाई हुई थी।

"उस समय कई आदमी थे जीजी। मैं उन्हें कैसे देखती? फिर तुमने पहले से बतलाया होता, तो देखती भी। अब बता रही हो, जब उस बात को गुज़रे हुए दो दिन बीत गए।" विमला ने धीरे-धीरे गंभीरता से कहा।

"हाँ" कहकर एक शीतल निःश्वास छोड़ते हुए अलकनंदा कहने लगी—"अब तो वह नहीं आएँगे। इसी बार आए थे, सो मेरे बड़े भाग्य थे। नहीं तो, तुम देखती ही हो, यहाँ कितने दिन से पड़ी हूँ, वह मुझे कितनी बार देखने आए?"

उसका कंठ भर आया, उसकी आँखें आँसुओं से भीग गईं।

विमला ने दृढ़ता के साथ कहा—"घर-घर ऐसे ही पुरुष हैं जीजी। वे दिन नहीं रहे, वे बातें नहीं रहीं। अब तो जो

कुछ भी प्राप्त है, उसी को अपने कलेजे से चिपटाकर संतोष करना पड़ता है। किया क्या जाय? हम नारियों का जीवन ही इसीलिये है।"

अलकनंदा ने आँसू पोछ डाले। भीतर का भीम उद्वेग सँभालते हुए उसने कहा—"ऐसी बात नहीं है बहन। पहले कभी ऐसी बातें नहीं हुई थीं। इधर दो वर्षों से ही उनमें यह बात देख रही हूँ। वह मुझे कितना प्यार करते थे, यह मैं तुम्हें क्या बताऊँ? मैं तो सोचती हूँ, कोई किसी को क्या उतना चाहता होगा, जितना वह मुझे चाहते थे? पर अब तो वे बातें मेरे लिये स्वप्न हो गई हैं। उनकी कथा मैं तुम्हें क्या सुनाऊँ?"

विमला अभी नवयुवती है। उसका रूप-लावण्य तरंग-मालिका की भाँति लहराया करता है। वह जिसे प्यार करती है, उसके पीछे नहीं पड़ती, वरन् उसी को अपने पीछे दौड़ाया करती है। उसने कहा—"यह कोई नई बात नहीं है जीजी। सभी पुरुष प्रारंभ में अपनी नवपत्नियों को बहुत अधिक प्यार करते हैं; पर उस समय भी उनका प्यार उनकी आत्मा के प्रति न होकर उनके कमनीय कलेवर के प्रति होता है।"

"मैं ऐसा नहीं मानती। मैंने उनकी प्रकृति का अध्ययन खूब किया है। मेरे बारह-चौदह वर्ष उनके साथ ही व्यतीत हुए हैं। मैं जानती हूँ, उनमें कहाँ, किस स्थल पर शिथिलता है। वह किसी आवश्यक काम में फँस गए हैं। वैसे तुम देखती ही हो, मुझे और किसी तरह का कष्ट तो है नहीं। कितने फल

रोज भेजते हैं ?—मुझसे खाए नहीं जाते। ज़्यादातर बाँट ही देती हूँ। छोटे बाबू को दोनो वक्त मुझे देखने के लिये भेजते ही हैं। रुपए-पैसे ख़र्च करने की भी कोई किफ़ायत मेरे सामने नहीं आती। फिर भी, बहन, मैं केवल इतना चाहती थी कि एक बार—केवल एक बार, दो मिनट को ही – वह चले आया करते। मैं उन्हें देख तो लेती। वैसे, हाल-चाल तो छोटे भाई से पा ही जाते हैं, तो भी कभी पूछ लेते—'कैसी तबियत है, पैर का दर्द गया कि नहीं ?' इससे मैं कितनो सुखी होती ?" कहते-कहते अलकनंदा फिर साश्रुनयन हो उठी।

विमला बोली—"इतना दुख न करो जीजी। वह आवेंगे, मुझे विश्वास है; वह जरूर आवेंगे। एक बार वह आ भर जायँ, फिर तो मैं सब ठीक कर दूँगी। तुम कुछ भी चिंता न करो जीजी।"

"तुम क्या ठीक कर दोगी ? तुम क्या ठीक कर सकती हो ? ये बातें भी क्या किसी से कहने की होती हैं ? और, यदि ये बातें कहनी ही पड़ें, तो फिर रह क्या गया ? इनसे तो केवल अंतःकरण की भावना का परिचय मिलता है। मैं तो मर जाना चाहूँगी, पर इस संबंध में कभी कुछ न कहूँगी। क्या बच्चों की-सी बात तुमने कह दी ? यह भी न समझा कि इनकी व्यथा किस प्रकार की है ? प्रेम क्या माँगने की वस्तु है ? क्या प्रेम माँगा भी जाता है ? छिः, तुमने यह भी न समझा कि प्रेम न कभी माँगा जाता है, न कभी माँगने से मिल ही सकता है।"

"अनुभव और अवस्था में तुम मुझसे बड़ी हो जीजी। मैं तुम्हारी बातों का आदर करती हूँ। मेरा अभी ज्ञान ही क्या? मैं तुमको बतला ही क्या सकती हूँ? बतलाऊँ भी, तो उसका वज़न क्या? फिर भी मुझे यह कहने दो जीजी कि प्रेम के अनंत रूप हैं, अनंत पथ। मानव-प्रकृति का वह एक शाश्वत अंग है। निश्चय-पूर्वक उसके संबंध में कोई कुछ कैसे कह सकता है? मैं तो समझती हूँ कि प्रेम माँगा भी जाता है, मिलता भी है, और लौटाया भी जाता है। भगवान् करें, तुम जल्दी चंगी हो जाओ, और दस-बीस बरस असीम सुख से अपना जीवन व्यतीत करो। कभी-न-कभी तो तुम्हें मालूम होगा जीजी कि मैंने जो बात कभी कही थी, वह कितनी यथार्थ थी।"

उस दिन दोनों का यह वार्तालाप यहीं समाप्त हो गया।

[२]

अलकनंदा के पैर का घाव धीरे-धीरे अच्छा हो रहा था। विजयकुमार प्रतिदिन अपनी भाभी को देखने के लिये पूर्ववत् अस्पताल आता और चला जाता। विमला साधारण बीमार थी। उस दिन के पश्चात् पंद्रह दिनों तक वह अस्पताल में और रही। इसके अनंतर वह भी चली गई।

दो मास और व्यतीत हो गए। इस बीच में भी कभी-कभी विमला अलकनंदा को देखने के लिये चली जाती थी। अस्पताल में एक साथ, निकट रहने के कारण वह अलकनंदा के स्नेहांचल में बँध गई थी।

एक दिन की बात है। प्रधान लेडी डॉक्टर ने अलकनंदा का पैर देखकर सशंकित मुद्रा से कहा—"अगर दर्द फिर शुरू हो गया है और फ़ीवर भी है, तो, जान पड़ता है, मवाद फिर बहने लगा। तब तो ऑपरेशन फिर करना पड़ेगा।"

विजयकुमार इस संवाद को सुनकर चिंतित हो उठा। प्रधान लेडी डॉक्टर से दूसरे दिन के ऑपरेशन का समय आदि पूछकर वह चला गया। उसी दिन सायंकाल विमला जब अलकनंदा से मिलने आई, तब उसने उसका हाल-चाल पूछा।

अलकनंदा ने व्यथित मुद्रा से कहा—"अब जान पड़ता है, अंतर्यामी मेरी पुकार सुन रहे हैं। तीन बार ऑपरेशन हो लेने पर, जब आज डेढ़ वर्ष बाद भी, पैर अच्छा नहीं हो रहा है, तब आगे क्या आशा करूँ? कल फिर ऑपरेशन होगा; वह भी आएँगे।"

"वह आएँगे?" विस्मय को आह्लाद से मिश्रित करके विमला ने झटके के साथ पूछा।

गंभीरता-पूर्वक अलकनंदा बोली—"हाँ, निश्चय ही वह आएँगे। लेकिन आएँ। आने से होता क्या है? मेरा वश चलता और मेरी भावना लेडी डॉक्टर महोदया समझ सकतीं, तो मैं तो अब यही चाहती कि किसी तरह मृत्यु ही आ जाय।"

इतना कहकर वह बिलख-बिलखकर रोने लगी।

विमला धैर्य बँधाते हुए बोली—"रोओ नहीं जीजी, पैर

अच्छा हो जायगा। तबियत भी ठीक हो जायगी। अब और अधिक दुखी न होओ।"

दूसरे दिन, ऑपरेशन के समय से बहुत पहले ही, बाबू शिव-कुमार आए। प्रधान लेडी डॉक्टर को सोलह रुपए भी उन्होंने दिए। अलकनंदा के निकट भी वह देर तक बैठे। अलकनंदा बोली—"अब तो मैं और कुछ नहीं, केवल मृत्यु की कामना करती हूँ। मेरे पास बैठकर तुम व्यर्थ अपना समय क्यों नष्ट करने आए हो? क्या तुम्हारी इच्छा यही है कि मैं मरते समय भी छटपटाती ही रहूँ, एक जलन से एक घृणा से? किसी प्रकार भी सुख-संतोष न पा सकूँ? अंतकाल में भी क्या तुम मुझे जलाना न छोड़ोगे? आखिर तुम्हारा अभिप्राय क्या है? क्या तुम्हारी लालसा के राज्य में अब भी मुझसे कुछ लेना शेष बच रहा है? और क्या वह मेरे अंतकाल की मरण-व्याकुलता ही है?"

शिवकुमार ने अलकनंदा की एक बात का भी उत्तर प्रारंभ में नहीं दिया। वह शनैः-शनैः इस प्रकार के वाग्बाण छोड़ती जाती, और शिवकुमार नीची दृष्टि किए उन्हें सुनते जाते। एक-एक बात को जैसे वह अलग-अलग अपने भीतर रखते जाते हों। जब अलकनंदा अपनी बात पूरी कर चुकी, तब शिव-कुमार ने कहा "पुरुष के अपराध कितने गुरुतर होते हैं, यह वह स्वयं नहीं जानते। जानने का प्रयत्न भी करें, तो भी उन्हें समझ नहीं सकते। उनका अनुभव तो नारी ही करती है। पर

नारी-हृदय की क्षमाशीलता कितनी महान् और कैसी विशाल वस्तु है, पुरुष इतना समझ सकता है। मैं जानना चाहता हूँ कि क्या मेरा अपराध इस सीमा तक पहुँच गया है कि वह क्षमा ही नहीं किया जा सकता ?"

अब अलकनंदा रो पड़ी, शिवकुमार भी अपनी आँखों के आँसू न सँभाल सके। इस तरह दोनों का मनस्ताप बहुत कुछ धुल गया।

इसके बाद ऑपरेशन हुआ। सायंकाल तक जब अलकनंदा पूर्ण रूप से सचेत हो गई, तब उसने देखा—शिवकुमार उसके निकट ही कुर्सी डाले बैठे हुए थे।

अब की बार ऑपरेशन पूर्ण रूप से सफल हुआ, अलकनंदा धीरे-धीरे स्वस्थ हो गई। उसका पैर अच्छा हो गया।

[३]

कई वर्ष व्यतीत हो गए। काल के अनंत अगाध में इन कुछ वर्षों की गणना क्या ?

अब अलकनंदा के दो बच्चे भी हैं। वह बड़े सुख-संतोष के साथ अपना जीवन बिता रही है। संसार में मानव-जीवन का जो चरम सुख है, अलकनंदा को वह सब प्राप्त है। बाबू शिवकुमार ने यथेष्ट संपत्ति और वैभव का अर्जन किया है। नौकर-चाकर, गाड़ी-घोड़े, महल आदि सभी कुछ हो गया है। उनका नवनिर्मित बँगला नगर के प्रमुख राजपथ पर है। आजकल अलकनंदा उसी में आ गई है।

सबेरा हुए अभी एक ही घंटा व्यतीत हुआ है। लान की हरी दूब पर धूप आ गई है। वहीं चुन्नू को लिए हुए एक सेवक खेला रहा है।

इसी समय एक फेरीवाले ने आवाज़ लगाई—"ये खिलौने तो खिलौनों के लिये आए हैं—बड़े मीठे बनाए हैं।"

चुन्नू ने सुना। पहले तो उसकी मुद्रा विस्मयात्मक हो गई। लेकिन फिर यह आवाज़ परिचित जान पड़ी। उसी ओर उसने उँगली उठा दी।

नौकर ने फेरीवाले को पास बुलाया। उससे एक खिलौना लेकर वह अलकनंदा के पास चल दिया। चुन्नू उसकी गोद में था। उसने खिलौना लेने का संकेत किया। यद्यपि वह ख़रीदा तो उसी के लिये जा रहा है, फिर भी नौकर ज़रा-सी भी देर और कर दे, तो चुन्नू रोने लगे। चुन्नू के रोने का भी मूल्य है। क्या बात हुई, जो वह रोया? इसीलिये सेवक ने खिलौना चुन्नू के हाथ में दे दिया। नौकर जानता है कि चुन्नू के हाथ में खिलौना जाने-भर की देर है, वह तुरंत मुँह में पहुँच जायगा। तो भी उसने खिलौना चुन्नू को दे दिया। वह उसे नाराज़ कैसे कर सकता है?

यहाँ अब प्रश्न यह उठता है कि पैसे देने से पूर्व ही फेरी-वाले की चीज़ का उपयोग जब प्रारंभ हो जाता है, तब क्या नौकर ही अपने पास पैसे रखकर समयानुसार फेरीवाले को पैसे नहीं दे सकता, क्योंकि मुख्य इच्छा तो चुन्नू की ही है?

तो भी प्रचलन ऐसा ही है। वह सूत्र है। उसका भाष्य करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। भाष्य करने पर अनेकार्थवाची विकल्प निकलते हैं। और, विकल्पों की महिमा बड़ी विचित्र होती है। तो भी एक बात समझ में आती है।

नौकर चुन्नू को गोद में लिए अलकनंदा के पास जा पहुँचा।

उधर वह ख़ुद हो इस दृश्य को देख रही है। मीठे खिलौने का रस चूसते हुए पुलकित मुद्रा से अलकनंदा के सामने जब चुन्नू की पेशी हुई, तब गोद में लेकर पहले तो अलकनंदा ने उसे अपने वक्ष में चिपका लिया, फिर उसकी चुम्मी ली।

यही वह बात है। कैसी प्राण-प्रद ?

[४]

नवंबर का तीसरा सप्ताह व्यतीत हो रहा है। रविवार का दिन है। बाबू शिवकुमार को भी फ़ुरसत है। हिवेट रोड से अमीनाबाद जाने में देर ही कितनी लगती है ? एक मोटर में बैठकर बाबू शिवकुमार सकुटुंब स्वदेशी-प्रदर्शिनी देखने आए हैं। मोटर तो बाहर खड़ी है। ड्राइवर महाशय अपने एक दोस्त से ग़प-शप कर रहे हैं। बाबू शिवकुमार मुख्य द्वार से प्रदर्शिनी में प्रवेश कर रहे हैं। उधर दूर से ही कोई रमणी बाबू साहब और उनके परिवार को भी खड़ा हुआ देख रही है। उसका कृश गात है, कपोल चिपके हुए हैं। श्वेत खादी की साड़ी के ऊपर एक असमिया स्लेट रंग की अंडी चादर

ओढ़े हुए है। पैरों में चप्पल हैं। धीरे-धीरे चलकर वह मोटर-ड्राइवर के निकट जा पहुँची। उससे पूछने लगी—"इस मोटर में कौन साहब आए हैं ?"

ड्राइवर ने उत्तर दिया—"बाबू शिवकुमार।"

"और भी कोई साथ है ?"

"पूरी फ़ैमिली है।"

उस रमणी ने फिर आगे कुछ नहीं पूछा। उसी फाटक से वह भी भीतर चली गई।

भीतर पहुँचने पर उसने सामने की ओर दृष्टि डाली। फिर कुछ सोचती हुई, किसी को खोजती हुई वह एक ओर चल दी।

वह देखती गई। "ये कपड़ेवाले हैं, ये जनरल मर्चेंट हैं। और भी बढ़ गई, वह हैं 'वह'। ये लो, किसी मित्र से नमस्कार करने लगे। फिर आगे बढ़ गए। अब पुस्तक-भंडार के सामने पहुँच गए। श्रीमतीजी ने कोई पुस्तक माँगी है। हाँ, अब ठीक है।" वह स्वयं आगे बढ़ गई।

आगे तो बढ़ गई, लेकिन वे लोग भी तब तक चल खड़े हुए। तब वह सोचने लगी—तो क्या हुआ ? मैं चलती जाऊँ। वह खड़ी होंगी, तब तो मिल ही जाऊँगी। वह चलती ही गई। दो दूकानों के बाद पहुँचकर वह अलकनंदा के सामने जा पहुँची और हाथ जोड़कर उनको नमस्कार करने लगी। बाबू शिवकुमार थोड़ा अलग हटकर एक पुस्तक के पन्ने उलटने लगे।

'नमस्ते' का उत्तर 'नमस्ते' में ही देकर अलकनंदा ने पूछा—"आप ? आपको, जान पड़ता है, मैंने कहीं देखा है। पर याद नहीं आती। क्या आप बतलाने का कष्ट करेंगी ?"

अलकनंदा इस समय भूल रही है कि कभी वह अस्पताल में थी, कभी वहाँ वह अत्यधिक दुखी भी रही थी, कभी उसने मृत्यु का भी आह्वान किया था। उस समय किसी ने उससे आत्मीयता भी प्राप्त की थी।

"मेरा नाम विमला है।"

"ओहो ! तो तुम विमला हो !" कहती हुई अलकनंदा ने उसे अपने बाहुद्वय में भरकर वक्ष से लगा लिया। फिर बोली—"आह ! आज कितने दिनों बाद तुमसे मिलना हुआ। कहाँ रहीं अब तक ? एक ही नगर में रहकर भी मिलीं इतने दिनों बाद ! और तुम हो कैसी गई ! क्या बीमार रहती हो ? और कोई साथ नहीं है ? अकेली ही हो क्या ?"

प्रश्नों की झड़ी लग गई। विमला बेचारी किस-किस बात का उत्तर दे। उसने साश्रु नयन होकर, चुन्नू को अपनी गोद में उठाकर, उसकी चुम्मी ली। फिर वह बोली—"हाँ जीजी, बीमार हो गई हूँ—थोड़े ही दिनों की और मेहमान हूँ।"

"वाह ! ऐसा कैसे हो सकता है विमला ? अच्छे-से-अच्छे डॉक्टर से मैं ख़ुद तुम्हारी चिकित्सा कराऊँगी। इतनी निराश क्यों होती हो ?"

"नहीं जीजी, तुम अब ये सब बातें रहने दो। वह समय अब निकल गया, जब मैं अच्छी हो सकती थी।"

"ऐसी क्या बात है? ऐसी कौन-सी बात है? देखती हूँ, तुम्हारा लड़कपन अभी तक नहीं गया! कैसी नासमझी की बातें करती हो! रोओ मत; देखो, कहना मानो। अच्छा चलो, घर चलें। तुम्हारी तबियत अच्छी नहीं है। तुम ज़्यादा बीमार हो।"

"ना जीजी, अब इसके लिये माफ़ी चाहती हूँ। मुझे घर न ले चलो। वहाँ जाने से तुमको कष्ट ही होगा।"

"कष्ट क्या होगा? कुछ कष्ट नहीं होगा। चलो, चलो तो!"

लेकिन विमला नहीं चल सकी। बोली—"मैं पहले ही माफ़ी माँग चुकी हूँ।"

तब अलकनंदा बोली—"तो मैं ही तुम्हारे घर चलूँगी। मैं उनसे कह तो दूँ कि मुझे आज प्रदर्शिनी नहीं देखनी है।"

अलकनंदा शिवकुमार के पास चल दी। किंतु उसी क्षण साश्चर्य-भाव से—"अरे! यह बात क्या है विमला?" कहती हुई, विमला को उनकी ओर मोड़कर, अलकनंदा बोल उठी—"देखो, ज़रा देखो तो सही, वह भी तुम्हारी तरह रो रहे हैं!"

थोड़ी-सी पी ली !

[१]

पीना कितनी बुरी लत है, यह बात क्या उसे मालूम नहीं ? उसके शरीर की दुर्दशा इसी ने की है। इसके पीछे उसने मार तक खाई है। वह ज़लील हो चुका है ! लेकिन भाईजान, किया क्या जाय ? यह भी एक अजीब बेबसी है। वह मनुष्य है। और, आप जानते ही हैं, मनुष्य के भीतर एक चिड़िया होती है, उसके पर होते हैं, और वे फड़फड़ाना जानते हैं। लोग उसे अंतरात्मा कहते हैं। कालूराम के भी अंतरात्मा है। कभी-कभी वह चीत्कार कर उठती है। तब उससे चुपचाप रहा नहीं जाता। वह अपनी सुध-बुध भूल जाना चाहता है। और, तब कालूराम पी लेता है।

कालूराम लंबे क़द का आदमी है। काले रंग का, मोटी जीन का पैंट उसकी लंबी टाँगों पर ख़ूब सोहता है। अवसर पाने पर, दोनो हाथ पैंट की जेबों में डालकर, वह कभी-कभी मिल में इधर-उधर घूम-फिर आता है। उसके सैकड़ों साथी हैं। उनके साथ हँसी-दिल्लगी करते रहने में उसे बहुत अच्छा लगता है। इसीलिये, तबियत बहलाने को, वह तरह-तरह की बातें किया करता है।

बारह के बाद एक बज गया था। दोपहर की एक घंटे की छुट्टी हो चुकी थी। कालूराम एक दूकान पर कचालू खा रहा था। इसी समय एक स्त्री उधर आ पहुँची। अवस्था उसकी तेईस-चौबीस से अधिक नहीं। उसके हाथों में चाँदी की पतली-पतली दो चूड़ियाँ हैं। पैरों में काँसे के कड़े पहने हुए है। मुख पर प्रौढ़ यौवन की अरुण आभा झलमला रही है। वक्षःप्रांत मोटे गाढ़े की कंचुकी से खूब कसा हुआ है। चौड़ी, काली पाड़ की धोती पहने हुए है।

निकट आने पर "आओ बतासफेनी, तुम भी कचालू खा लो।" कालूराम ने प्रफुल्लित होकर कहा।

नाम तो इस स्त्री का है 'बतासो', पर कालूराम अपनी इच्छा से उसे बतासफेनी कहता है। वह भी उसके इस तरह कहने से चिढ़ती नहीं, जरा-सा मुस्किरा देती है। और यही बात कालूराम को बहुत अच्छी लगती है।

उसने उत्तर में कुछ हँसते और कुछ मुख बिदोरते हुए कहा—"बड़े खिलानेवाले ! खिलाने भी चले, तो चरपरी चीज़ ! अरे, खिलाना ही था, तो खिलाते मोतीचूर के लड्डू ; मुँह भी मीठा होता, और पेट में भी जान पड़ता, कोई चीज़ पड़ी।"

"अच्छा, रामधन, कै ठो लड्डू तुम्हारे पास हैं ?" तत्क्षण कालूराम सोल्लास बोल उठा।

"अब तो पाँच ही बच रहे हैं।" खोंचेवाले ने जवाब दिया।

"ले लो बतासफेनी !...अरे हाँ, फिर पैसा और होता

किसलिये है !" कालूराम ने कह दिया। उसका मुख उल्लसित आलोक से उद्दीप्त हो उठा।

लेकिन बतासो क्या कोई आवारा स्त्री है ? वह मजदूरिन है, तो क्या हुआ ? वह विधवा है। चाहती, तो जिसके साथ जी भरता, उसी की रानी होकर रहती, लेकिन उसके दो बच्चे भी तो हैं। उन बेचारों की दुर्दशा न हो जाती, दूसरा पति उनकी क्या परवा करता ! कालूराम बतासो की इस दुनिया में अपरिचित नहीं, इसीलिये वह उसका आदर करता है।

अब बतासो गंभीर हो गई। बोली—"बस, हो चुका भैया, तुम खाओ, समझ लो, मैं खा चुकी। अब जीजी को नहीं बुलाओगे देवरजी ? सोच देखो, तुम्हें इस तरह रहते कितने दिन हो गए ? कितनी बार तुमने कहा होगा कि अब ले आएँगे, अब ले आएँगे; लेकिन लाते नहीं। यह भी कोई अच्छी बात है।"

अभी एक पैसे का कचालू ही उसने खा पाया था, फिर भी खोंचेवाले से कह दिया—"बस, अब कुछ नहीं खाऊँगा, तबियत नहीं है और कुछ खाने की।"

"क्यों, क्या हुआ ? खा न लो कुछ और। मैं भी जाती हूँ अब। दो ठो बेझर की रोटी ले आई हूँ। ज़रा-सी आम की खटाई भी है। उसी में खाऊँगी जाकर। तुम खाओ।" कहकर बतासो चल दी।

कालू जब तक दो घूँट पानी पीने में लगे, तब तक बतासो चल दी। कालू उसे देखता रह गया।

[२]

"यही वह नारी है, जिसने उसे बरबाद किया है," कालू सोचने लगा— 'नहीं तो उसे कमी किस बात की थी ? क्या उसके कोई है नहीं ? फिर भी उसका मन इससे उलझ गया था। उसकी स्त्री गाँव में रहती है। गाँव में मेहनत-मज़दूरी करके किसी तरह अपना गुज़र कर रही होगी। कई वर्ष हो गए, ले आना तो दूर, उसने खर्च के लिये रुपया तक नहीं भेजा ! कैसा विश्वासघात वह उसके साथ कर बैठा है ! उफ़ ! वह अब किस मुँह से उसके पास जाय ?

"इधर यह स्त्री भी अजीब क़िस्म की उसे देख पड़ी। जैसे तितली हो। दो मिनट को यहाँ आई, और जब तक मैं कुछ कहूँ कि फ़ौरन् उड़न-छू हो गई। कितनी चंचलता है इसमें ? और इसकी यह चंचलता ही मुझे बहुत भाती है। ऐसी ही स्त्री मैं चाहता था। सोचता था, किसी तरह यह अगर मुझसे उलझ जायगी, तो जीवन का थोड़ा-सा रस मैं भी पा जाऊँगा। लेकिन स्त्री क्या है, गिलहरी है—स्पर्श तक नहीं करने देती। आज यह कोई नई बात नहीं है। कई वर्ष से वह इसके पीछे इसी तरह लटका हुआ है।"

कालू यह सब सोच ही रहा था कि मिल का भोंपू बज उठा। साथी लोग दौड़ पड़े। वह भी चल खड़ा हुआ।

अपने काम पर कालू चला तो गया, लेकिन आज उसका जी कुछ उखड़ा हुआ था। एक बीड़ी कालूराम के ओठों से लगी हुई है। दोनो हाथों में करछुला लिए स्टीम की भट्ठी में वह कोयला झोंक रहा है। थोड़ी देर के लिये अवकाश मिला, तो बाहर, खुले आकाश में, आकर बीड़ी पीने लगा। बीड़ी पीते-पीते उसके अतीत की स्मृतियाँ उसकी अंतर्दृष्टि के पट पर चक्कर मारने लगीं—

"उसका बचपन है। वह गाँव में रहता है। उसके अनेक साथी है। उसका अपना घर है। उसकी मा है, उसके बप्पा हैं। गाय है, और बकरियाँ हैं। उसके घर कोल्हू है, और कोल्हू का बैल है। तेल पेरने से काफ़ी आमदनी होती है। वह चाहता है, तो घर का काम कर लेता है, और नहीं चाहता, तो नहीं भी करता। कोई उससे आधी बात भी कहने-वाला नहीं। चाहे वह .खुद ही कोई अपराध कर डाले, और डाँट पड़ने पर उदास हो उठे, तो भी उसकी मा उलटे उसे ही मना लेगी। उसके बप्पा भी थोड़ी देर बाद उससे हँसकर बोलने लगेंगे। वह भी ऐसे अच्छे हैं कि घड़ी-भर पहले का किया क्रोध भूल जाते हैं।

"उसके पास पैसे रहते हैं। वह उन पैसों को .खूब उड़ाता है। कभी पतंग और मंझा ले आया, कभी जलेबी खा लीं। कोई उससे कुछ कहनेवाला है? लेकिन मान लो, उसके पास पैसे नहीं भी हैं, तो भी उसे दुःख किस बात का है? उसका

कोई काम थोड़े ही रुकता है। पैसे न होने पर भी वह चाहता है, तो पैसे हो जाते हैं।"

कालू कोयला झोंके जा रहा है—झोंके जा रहा है। बीच-बीच में सोचता जाता है—"अभी तो एक ही बजा है। पूरे चार घंटे पड़े हैं। पेट में चूहे अलग उछल-कूद मचाए हुए हैं। . बतासफेनी आज मुझ पर कैसा चाबुक जमा गई! पहले तो उकसाया। बोली—'खिलाना ही था, तो मोतीचूर के लड्डू खिलाते।' बात उसने ऐसी कह ही दी कि मेरे छूकर निकल गई। मैंने भी मौक़ा देखकर वैसा ही उतर दिया। समझा, आज उसकी नज़र मेरी ओर हुई है। कैसी अच्छी लगी उसकी यह बात! लेकिन फिर भी कैसा कतराकर निकल गई! कितनी ऊँची उठ गई! औरत की ज़ात होती ही ऐसी है, किया क्या जाय। जो उस पर विश्वास करे, वह है पूरा अहमक़।

"लेकिन इसी जगह मैं, जान पड़ता है, ग़लती कर रहा हूँ। बतासफेनी अगर इसी तरह बहक जानेवाली औरत होती, तो अपनी यह लबालब जवानी कैसे पार करती! तब तो आज वह ऐसी रह भी न पाती। मैं ख़ुद ही उससे नफ़रत करता। और आज तो उसके क़दम चूमने की तबियत होती है...। की तो थी एक दिन किसी ने उससे छेड़-छाड़। उसने ऐसा तमाचा कसके जड़ दिया कि बच्चू के होश ठिकाने आ गए— कान का एक परदा ही फट गया!

"उँह, यह कोयला भी मेरी जान से लिपटा है। है तो पत्थर के मानिंद कड़ा, लेकिन जलता कैसा है! कहीं इसका निकलना बंद हो जाय, तो मजा आ जाय। सैकड़ों मिल-मालिकों की तोंद ही पचक जाय।

"लेकिन ज़माना कितनी जल्दी बदल गया! माता-पिता नहीं रहे। घर गिर पड़ा। बैल मर गया। कोल्हू पड़ा-पड़ा सड़-घुन गया। औरत छोड़ उसका कोई न रहा। कभी-कभी वह मजदूरी कर लेने लगा, उसी से किसी तरह कुछ दिन कटे। फिर ऐसा भी दिन आया, जब उसे दो टुकड़े रोटियों के भी लाले पड़ गए। कई साथी शहर भाग आए थे। वे अच्छी हालत में थे। उस दिन यह अरजुनवाँ जब गाँव से चलने लगा, तो मैं भी उसके साथ चला आया। तब से मैं शहर में ही रहने लगा, और अब फ़ायरमैन कहलाने लगा।

"मैं नहीं जानता था, यह अरजुनवाँ ऐसा बदमाश हो गया है; नहीं तो मैं इसका साथ ही क्यों करता। पहले तो .खुद पैसे खर्च करता रहा, फिर जब मुझे चस्का पड़ गया, तो साथ में .खुद भी मेरे ही मत्थे देने लगा। नहीं तो क्या अब तक मेरे पास दो-डेढ़ सौ रुपया भी न होता!...काश, आज घरवाली उसके साथ होती!

"इस कोयले के साथ रहते-रहते मैं .खुद भी कोयला हो गया। किसी के कपड़े क्या कभी इतने गंदे रह सकते हैं, जितने मेरे रहते हैं! मैंने भी आदमी की तबियत पाई है, साफ़

रहना मुझे भी पसंद है, लेकिन वाह री नौकरी ! क्या कोई ऐसा दिन होगा, जब इससे पिंड छूटेगा। लेकिन मेरा यह सोचना ठीक नहीं। ज़माना बड़ा नाज़ुक है। नौकरी एक बार छूट जाने पर, फिर बेकारी में, आदमी दाने-दाने को तरसता है। एक दिन था, जब अब्दुलक़ादिर मेरे साथ काम करता था। अभी साल-भर भी नौकरी छूटे नहीं हुआ कि सड़क पर पड़ी हुई दाल चाटने लगा। हाय री पेट की आग !"

पाँच बजे, मिल से छुट्टी पाकर कालूराम सीधा अपने क्वार्टर पहुँचा। साथ में चार पैसे के पाव-भर तेल के पराठे, एक पैसे का दही-बड़ा और एक पैसे की भुनी शकरक़ंद लेता गया। इतमीनान के साथ बैठकर उसने खाना खाया।

इतने में शाम हो गई। खलासीलैन की सड़क पर बिजली की बत्तियाँ जल गईं। कालूराम अपने भीतर एक तरह की बेचैनी अनुभव करने लगा। बार-बार उसका जी किसी ओर उड़ चलने को होता था। उसके मन में आया—पहलेपहल जब अरजुनवाँ उसे कलवरिया ले गया था, उसने कहा था—ज़रा-सा पी तो सही, सामने परियाँ-सी नाचती नज़र आएँगी। और, उसके बाद वह पीने लगा। पीने से उसे क्या मिला, यह वह नहीं जानता, पर उसने अनुभव किया—पीने से उसे कुछ नहीं मिला, ठीक तरह से वह यह भी नहीं कह सकता। यही सब सोचते-विचारते कालूराम कलवरिया जा पहुँचा।

एक, दो, तीन। उसने तीन पेग ख़ाली कर दिए।

अब वह झूमने लगा।

[३]

कालूराम सड़क पर अकेला ख़रामा-ख़रामा चल रहा है। पृथ्वी पर उसके पैर यथाविधि नहीं पड़ रहे हैं। इसी समय उसे कोई उधर आता हुआ देख पड़ा। "आह! उसकी मुराद पूरी हो गई।" सोचते हुए उत्फुल्ल मन से उसने उसे देखा। चादर उसकी मैली नहीं हुई है। शरीर भी लोचदार है। अरे! वह तो उसी के पास आ रही है!

उसके भीतर कोई कहने लगा "साला ठीक ही कहता था—परियाँ . परियाँ नज़र आएँगी। अब तक कहीं ना ··ना··· नाचती रही होगी यह!"

वह और भी निकट आ गई।

दोनो ने एक दूसरे को देखा। उस क्षीण प्रकाश में उसे देखकर कालूराम की बाछें खिल गईं। उसके गले में अपना हाथ डाल दिया। बोला—"आ ··आ···आज तुम आ गईं। हुँ-हुँ-हुँ! ख़ूब आईं!"

स्त्री बोली—"चलो, घर चलो। होश में नहीं हो, जान पड़ता है, पीने लगे हो!"

'रो···रो···रोज़ थोड़े ही पीता हूँ। कभी-कभी। आज तो तुम्हारे लिये! हाँ, समझ जाओ।"

उसने अपने गले से उसका हाथ उतार लिया। बोली—

"तो चलो, अब घर चलो।" उसने .खुद ही कालू को साध लिया। धीरे-धीरे वह उसे लेकर चल खड़ी हुई।

कार्टर में पहुँचते देर न लगी।

कालूराम बोला --"यही है मेरी कोठरी। तुम यहाँ रहोगी बतासफेनी? हँ-हँ, तुम यहाँ कैसे रह सकोगी। अच्छा, हटाओ, मारो गोली इस बात को। पर आज तुम आ खूब गईं !"

कोठरी में अंधकार छाया हुआ था। स्त्री बोली—"ये अठ-खेलियाँ रहने दो। ...क्या लालटेन नहीं है? जलाओ ज़रा।"

फिर उसे ख़याल आ गया। इस समय उसे .खुद ही इसका प्रबंध करना चाहिए। बोली—"दियासलाई नहीं है क्या ?"

"क्या होगा लालटेन जलाकर ? मुझे तो अँधेरे में भी तुम परी-सी जान पड़ती हो बतासफेनी !" कहकर उसने दिया-सलाई की डिब्बी आगे फेक दी।

दियासलाई जलाकर क्षण-भर में ही स्त्री ने देखा, एक पुरानी चारपाई है, एक लोटा, कुछ ख़ाली बोतलें और कुल्हड़। रज़ाई पुरानी है। दरी चिथड़े-चिथड़े हो गई है। एक कोने में फूटे कुल्हड़ों और दोनों का ढेर लगा है। आले में ढिबरी रक्खी है, जिसके ऊपर ढेरों काजल है।

स्त्री ने ढिबरी जला दी।

लेकिन उसके जलाने-भर से होता क्या है। क्षण-भर बाद ही वह बुझ गई। फिर वहाँ अँधेरा छा गया। ढिबरी में तेल ही न था, वह जलती कैसे ?

कालू अब चारपाई पर लेट रहा था।

स्त्री ने पूछा—"कुछ खाओगे नहीं ?"

वह बोला—"मैं तो खा चुका हूँ; तुम्हें कहो मिठाई-पूड़ी ला दूँ बतासफेनी ! तुम्हारे लिये क्या कोई कमी है ?"

एक शीतल निःश्वास उस स्त्री के अंतराल से निकला, और सघन अंधकार में विलीन हो गया। कुछ सोचती हुई वह उठी। उसने लोटा उठाया। सोचा, बाहर सड़क के नल में अभी पानी आ रहा होगा। इधर आते हुए उसने नल देख लिया था। वह नल में पानी भर लाई। कुछ चने उसके पास बँधे थे। उन्हीं को चबाकर उसने आधा लोटा पानी पी लिया।

इसके बाद ?

कल्पना मानवात्मा का जीवन है। एक क्षण को भी यदि कल्पना का अस्तित्व हमारे जीवन से लोप हो जाय, तो यह संसार हमारे लिये और हम संसार के लिये क्या रहें ?

दोनो सो रहे।

तीन बजे कालू की आँख खुल गई। उसकी चेतना सजग हो उठी। रात की कुछ बातें उसके मन की सीढ़ियों पर उतरने लगीं।

क्षण-भर को उसके मन में आया—"ओह ! क्या जीवन ऐसा ही आनंदमय होता है ? बतासफेनी अपनी हो जायगी, मैं तो यह आशा छोड़ ही बैठा था।"

दिवस का आलोक घर-घर में, कोने-कोने में जा घुसा।

कालू की भी आँखें खुल गईं। एकाएक उसकी दृष्टि उस स्त्री के खुले मुख पर जा पड़ी। स्थिर, अपलक दृष्टि से क्षण-भर उसने उस मुख का अध्ययन किया। और तब, एकदम से—"अरे! यह हो क्या गया?" का हुंकार उसके भीतर प्राणांत तक हो उठा। और, इसी समय वह स्त्री भी उठ बैठी। उसके मुख पर की भाव-रेखाएँ एक अरुणाभा से दमक उठीं। वह बोली—"और तो सभी कुछ मैंने देखा और समझा; अब यह तो बताओ कि यह बतासफेनी कौन है?"

"कोई नहीं; बात यह है कि कल मैंने थोड़ी-सी पी ली थी।" कालू उत्तर देकर सोचने लगा—"क्या जीवन का सुख भी बहुरूपिया है?"

परीक्षा

एक होस्टेल है। उसमें, कॉलेज के विद्यार्थियों का, एप्रिल-मास का अंतिम सप्ताह चल रहा है। कुछ थोड़े लॉ-फ़ाइनल के विद्यार्थी ही रह गए हैं। अधिकतर तो अपनी-अपनी परीक्षाएँ देकर चले गए हैं, कुछ अभी आज-ही-कल में जानेवाले हैं। और लॉ-फ़ाइनल की परीक्षा भी कल से ही प्रारंभ होनेवाली है। इस प्रकार आज के दिन बड़ी कड़ी पढ़ाई के हैं—एकदम अटूट, अविच्छिन्न। ये ही वे दिन हैं, जब विद्यार्थी अपने में एक प्रकार की दानवी शक्ति, एक असाधारण संलग्नता का अनुभव करता है। वह सोते हुए पढ़ता है, भोजन करते हुए पढ़ता है और कुछ न पढ़ते हुए भी पढ़ता है।

हाँ, तो कुछ लोग तो साढ़े आठ बजे से ही पलँग पर मसहरी लगाकर लेट रहे हैं, इस आशा से कि नौ बजते-बजते भी यदि नींद आ गई, तो फिर एक-डेढ़ बजे सुविधा से उठ सकेंगे। उस समय नई-ताज़ी स्फूर्ति अपने में पाएँगे। बस, तभी पढ़ाया जायगा मननशीलता से—ख़ूब समझ-बूझकर, ऐसा कि जो भूल न सके, या भुलाया न जा सके।

पर कुछ ऐसे भी विद्यार्थी हैं, जिन्हें अब आज के लिये कुछ

नहीं पढ़ना है ; केवल एक बार पढ़े हुए को फिर नया कर लेना है, सोए हुए को जगा लेना है, और जिन बातों को तहाकर रख छोड़ा था, उन्हें फिर से उपयोग में लाने के लिये, उठाकर, अपनी चेतना के कमरे में, निकट ही ज्ञान की खूँटी पर, टाँग लेना है। इसके सिवा उनका यह भी कहना है कि नई स्फूर्ति का उपयोग तो हमें परीक्षा के समय ही करना है। अतएव इधर रात में जितना पढ़ा जा सके, पढ़ लिया जाय, और फिर इस संतोष के साथ सोया जाय कि सबेरे उठकर, ताज़गी में, परीक्षा-भवन की ओर जाना है।

हमारा अतुलचंद ऐसा ही विद्यार्थी है।

उजेली रात का सन्नाटा है। अभी-अभी बारह बजे का कचहरी का घंटा बज चुका है, और अतुल सिविल-प्रोसीजर के सेक्शंस देख रहा है। उसका आज का काम समाप्त होने को है। आगे के पन्ने उलटकर अभी उसने गिन लिए हैं। कुल सात पृष्ठ उसे और पढ़ने हैं, और ये पृष्ठ उसके लिये पाँच मिनट से अधिक समय के नहीं हैं।

उसके कमरे का दरवाज़ा भीतर से बंद है। कमरे में बिजली का प्रकाश फैला हुआ है, और टेबिल-फ़ैन अपनी प्रारंभिक स्पीड से चल रहा है। उसका स्वर मंद है। बस, यही समझिए कि भन्न-से शब्द का वह ऐसा स्वर है, जो एक बार, अनिश्चित काल के लिये, चिर-स्थिर होकर गूँज उठा है।

इसी क्षण अतुल ने लक्ष किया – उसके कमरे के द्वार में एक किवाड़ के ऊपरी भाग के शीशे पर किसी ने दो बार अंगुलि-आघात कर कुट-कुट शब्द किया है।

झट से वह अपनी कुरसी से उठ खड़ा हुआ।

उसका एक मित्र है सुशील। वह कभी-कभी इतनी ही रात को आकर, इसी प्रकार शीशे पर कुट-कुट शब्द करके किवाड़ खोलने को विवश कर देता है। वह सुशील इस समय यहाँ बैठने नहीं आता, न गप-शप ही उसका अभीष्ट होता है। वह तो केवल यह पूछने आता है कि आज तुमने कितना पढ़ा है। और, फिर यही, इतनी ही बात, पूछकर चला जाता है। यह बात सिर्फ़ आजकल के लिये है। यों वह कैसा प्रचंड हँसोड़, बातूनी और खिलाड़ी है, उसका तो अलग एक अध्याय है। इस समय उसकी चर्चा व्यर्थ है।

हाँ, तो अतुल ने समझा, वही सुशील है और वही बात पूछने आ गया है। उठकर उसने झट से किवाड़ खोल दिए। मुस्किराकर वह कहने ही वाला था कि 'क्यों, तबियत नहीं मानी !···अच्छा, आज तुम्हीं बताओ, कितना पढ़ा है ?' परंतु उसके आगे जब वह सुशील न होकर निकला एक सर्वथा नवीन, एकदम अपरिचित व्यक्ति, तो वह चकित-विस्मित हो उठा। उसने देखा, वह व्यक्ति ऊपर से नीचे तक पूरी तरह राजकुमार के-से वेश में है, कपड़े भी उसके ऐसे साधारण नहीं। गौर वर्ण है, और क्लीनशेव्ड आनन पर जो मंद-

मंद हरीतिमा झलक रही है, वह भी ऐसी कम शोभन नहीं है। वह सिर में जयपुरी साफ़ा बाँधे हुए है।

एक ही दृष्टि में यह सब देखकर वह पूछने ही वाला था कि 'कहिए, आपका क्या अभिप्राय है?' किंतु नवागंतुक व्यक्ति तो किवाड़ खुलने पर, किसी प्रकार की अनुमति की प्रतीक्षा किए विना ही, अधिकार-पूर्वक भीतर आ गया।

कुरसी ख़ाली पड़ी ही थी। अतुल ने समझा, वह मेरे किसी आत्मीय बंधु के यहाँ से आया है, और अब अपना परिचय देने ही वाला है, अतः उसने कह दिया—"बैठिए।"

किंतु नवागंतु ने अतुल के इस कथन पर कुछ भी ध्यान न देकर कह दिया—"मैं तीन-चार दिन आपके साथ रहना चाहता हूँ।"

वह खड़ा था। उसने खड़े-ही-खड़े अतिशय उत्सुकता-भरे मृदुल स्वर में यह बात कही।

अतुल के लिये यह नई बात है। वह कभी अपने को देखता है, कभी उस व्यक्ति को; पर जल्दी में कोई निश्चय नहीं कर पाता है। वह सोचता है, संसार में कोई भी व्यक्ति जन्म से ही किसी का शत्रु होकर नहीं अवतरित होता—आँखें खोलने पर सभी निकटतम पुरुषों को वह आत्मीय ही समझता है; तथापि यह समस्या उसके लिये ऐसी साधारण नहीं है।...वह सोचता है—व्यक्तित्व! व्यक्तित्व वास्तव में बड़ी आकर्षक वस्तु है; किंतु उसने जीवन में कभी उसके

अधिकार की मीमांसा नहीं की। तब वह कैसे तत्काल उसकी प्रभावशीलता स्वीकार कर सकता है। उसने एक बार फिर जब उस व्यक्ति के गंभीर मुख की ओर देखा, तो विमर्श का एक कोलाहल उसके अंतःकरण में ध्वनित हो बैठा।

...परंतु वह एकदम से इनकार भी कैसे कर सकता है! किसी भी व्यक्ति की कोई भी आशा, सामर्थ्य रहते, उसने कभी भंग नहीं की। 'न' कहना उसने कभी जाना नहीं, 'हाँ' कहना ही उसकी प्रकृति का मुख्य गुण रहा है। प्रयत्न करने पर भी, यदि आगे चलकर, वह किसी प्रतिज्ञात बात का सोलह आने पालन नहीं कर सका है, तो उसकी लज्जाजन्य व्याकुलता उसने सहन कर ली है। फिर अपनी शक्ति और तत्कालीन परिस्थिति को उस पात्र के सामने यथातथ्य रूप में रखकर उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है—"भाई, अब तो और अधिक आशा नहीं। मैंने सोचा था, तुम्हारी इतनी सेवा मैं कर सकूँगा! पर जान पड़ता है, उस समय मैं उचित से कुछ अधिक उछलकर, कुछ अधिक कर सकने की मिथ्या आशा कर बैठा था। और अब तो यह स्पष्ट ही हो गया है कि अभी मेरा संसार वैसा बन नहीं सका है। अतएव अब और अधिक के लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।"

उपर्युक्त बात कहते-कहते उसके भीतर की लज्जा, उसकी अदूरदर्शिता की ग्लानि, उसके आनन पर मुखरित हो उठती, और उसे इस दशा में देखकर याचक भी वाक्हीन-सा हो

उठता। वह भी समझने लगता, कर्तव्य की अबाध गति में यह कितना आगे रहता है। जो काम वह नहीं भी कर सकता, उसको भी, सेवा के नाते, इतनी दूर तक तो कार्य के रूप में पहुँचा ही देता है। कैसा वह देवोपम है!

उस समय नवागंतुक का एक-एक क्षण कल्प की काया बन रहा था। उत्तर की आशा से, जैसे अतुल की आँखों में समाहित होकर, वह उसे देख रहा था।

अतुल ने कह दिया –"बैठिए—पहले बैठिए तो।"

अतुल के इस उत्तर में उस व्यक्ति को थोड़ा आश्वासन मिला। अतएव उसने कहा—"अच्छा, थोड़ा पानी दीजिए। हाथ-मुँह धो लूँ। बड़ा थका हुआ हूँ।"

लोटे में, सुराही से, अतुल जब जल भरने लगा, तो उस व्यक्ति ने अपना पसीने से तर हो रहा कोट उस कमरे की एक खूँटी पर टाँग दिया।

अतुल ने जब जल-भरा लोटा उस व्यक्ति को दे दिया, तो वह कमरे के द्वार की दालान के उस किनारे जाकर हाथ-मुँह धोने लगा।

इधर अतुल की दृष्टि इस नवागंतुक के उसी कोट पर जा पड़ी। उसको टटोलकर उसने अपना संदेह निवारण किया। अचिर भविष्य की प्रत्येक प्रकार की संभावनाएँ उसके प्रशांत मानस में तूफ़ान की हिलोर बनकर तैरने लगीं। उसे बोध होने लगा क एक भीषण भूकंप मानो उसे ध्वस्त करना ही चाहता है।

नवागंतुक अब जैसे ही भीतर आया, लोटा उसने एक ओर रख दिया और कुरसी पर बैठ गया, वैसे ही अतुल ने द्वार बंद कर लिया, और कहा—"भाई, मुझे माफ़ कर दो। मेरे हृदय में आपके प्रति सम्मान के कैसे उदात्त भाव हैं, कह नहीं सकता; किंतु कल से ही मेरी लॉ-फ़ाइनल की परीक्षा होनेवाली है। ऐसे संक्रमण काल में मैं आपकी सेवा करने योग्य नहीं।"

घोर निराशा की यातना में ओत-प्रोत होकर, एक बार फिर अपने व्यक्तित्व को मानो कंठ पर उतारकर, उसने कहा—"अच्छा, तब मैं आपको अधिक कष्ट न दूँगा। कल प्रातःकाल से पूर्व ही चला जाऊँगा। रात के कुछ अवशिष्ट घंटे ही आपके यहाँ व्यतीत करूँगा। उधर बाहर कहीं पड़ रहूँगा। इस तरह आपको कोई असुविधा भी न होगी।"

इस समय अतुल स्वतः कितनी ग्लानि का अनुभव कर रहा है, परिस्थिति-वश अपने इस संबंध के स्वाभाविक मोह को किस तरह वह दमन कर सका है, इसे कौन समझ सकता है! जो बात उसके लिये एक प्रकार से प्रकृति-विरुद्ध है, जिसके लिये वह स्वयं ही अनुताप-दग्ध होता आया है, आज इसी प्रसंग में उसे ऐसा अवश्य होना पड़ रहा है। कर्तव्यहीनता के इस उत्पीड़न को जब वह उस व्यक्ति के समक्ष प्रकट करने में भी अक्षम है, तब भी अवांछनीय प्रस्ताव के प्रहार उसकी दयनीय आत्मा पर उत्तरोत्तर हो ही रहे हैं,

यही अनुभव कर क्षण-भर के लिये अतुल किंचित् कठोर हो पड़ा। उसका सुमन-शोभन मुख रुद्र हो उठा, उसका प्रकृत कोमल कंठ एकदम से गंभीर हो गया। उसने कह दिया—"जो कुछ भी मैं कह सकता था, उससे अधिक कहने की जरूरत नहीं समझता। इसके सिवा मैं पहले ही माफ़ी माँग चुका हूँ।"

नवागंतुक उसी क्षण उठ खड़ा हुआ। खूँटी से कोट उतारकर जब वह चल दिया, तो अतुल ने उठकर, द्वार खोलकर उसके सम्मानार्थ अभिवादन किया। द्वार के बाहर जब उस व्यक्ति की पद-ध्वनि गतिशील हो उठी, तो उसने लक्ष किया, जैसे अतिशय मंद स्वर में, चरम घृणा से, वह कह गया हो—"कायर कहीं का!"

* * *

"ऐं, क्या कह गया?—कायर कहीं का! तो मैं कायर हूँ? हूँ, मैं कायर हूँ; किंतु उतना ही, जितना तू बुद्धिहीन, विवेक-हीन और उच्छृंखल है। जो व्यक्ति अपने ही आपको देखता है, जो दूसरों की परिस्थिति के प्रति प्रज्ञाचक्षु होकर रहता है, जो अपनी ही बात कहना चाहता है, दूसरों की बात सुनना भी जिसने नहीं सीखा, जो एक सीधी-सी बात भी सहन नहीं कर सकता, मानवात्मा के प्रति जो इतना न्याय-हीन और निर्दय है, वह भी मनुष्य है? कैसे वह मनुष्य हो सकता है? पाखंडी कहीं का! ये ही मुल्क को आज़ाद करेंगे? छिः!"

किंतु बेचारा बहुत थका हुआ था। फिर कुछ ही घंटे ता
वह रहना चाहता था! उसकी आँखें कितनी क्षुधित, मुद्रा
कैसी विपन्न और उत्कंठा कैसी दयनीय थी!

वह सुशील के कमरे की ओर गया। देखा, वह सो गया
है। पुकारा—"सुशील, सुशील! सो गए क्या? हाँ, सो ही
गए हो। अच्छा, सोओ। मैं भी अब सोऊँगा।"

वह लौट पड़ा, और अपने कमरे में आकर चारपाई पर
लेट गया। अभी उसने लाइट ऑफ़ नहीं की थी। घड़ी की
ओर देखा—"ओह, डेढ़ बज गया! अच्छा, तो अब सो जाना
चाहिए।"

उसने कमरा बंद करके लाइट ऑफ़ कर दी। अब वह लेट
गया। कभी इस करवट लेटा, कभी उस करवट; किंतु उसे
नींद जल्दी नहीं आई।

"ऊँह, पकड़ लिए जायँगे, पकड़ लिए जायँ, अपने को क्या?
मैं कर ही क्या सकता हूँ? पागल बने घूमते हैं। पूछो, जैसे
देश के लिये इन्हीं ने जन्म लिया हो। हम लोग जैसे मिट्टी के
पुतले हैं, पशु-पक्षी हैं, या कीड़े हैं। मानो विवेक हमने खो
दिया है। मनुष्यता हममें है ही नहीं!"

"लेकिन नींद फिर भी नहीं आ रही है।

"तो क्या आज की रात इसी प्रकार व्यतीत होगी? शायद
भूखे भी थे।—क्योंकि स्वर बहुत दबा हुआ था। लेकिन मैं
कर ही क्या सकता था! ऐसे वक्त भला मैं इन्हें क्या

खिलाता ? तो यह मेरे ही यहाँ क्यों आ धमके ? समझा होगा, प्रकृति का गंभीर आदमी है, विश्वास भी उसका किया जा सकता है।…संभव है, किसी ने मेरे संबंध में कुछ कह भी दिया हो। नहीं तो मेरे पास आ नहीं सकते थे। किंतु चलो, यह भी ठीक ही रहा कि झंझट में नहीं पड़ा। नहीं तो……।

"लेकिन नींद तो आ ही नहीं रही है !

"तो क्या इसी तरह करवटें बदलता रहूँगा ?" उसने अब फिर लाइट का स्विच दबा दिया। लेटे-लेटे पढ़ने लगा। अब दो-चार मिनट में उसकी आँखें झपक गईं।

"अतुल ! अतुल ! कुट् ! कुट् ! कुट् ! अरे, उठोगे नहीं। देखो, साढ़े पाँच बज गए। क्या सोते ही रहोगे ? कुट् ! कुट् ! कुट् !"

अतुल एकदम से घबराकर उठ बैठा। देखा, पंखा तो खैर चल ही रहा है, लाइट भी जल रही है, और दिन का प्रकाश भी फूट निकला है। उधर दरवाज़े पर कोई कुट्-कुट् कर रहा है, सो अलग।

उसका हृदय द्रुत गति से स्पंदित हो उठा—यह कौन है, जो किवाड़ इतने ज़ोर से खटका रहा है। मामला क्या है ? ध्यान से देखा, तो सुशील जान पड़ा। तब उसने किवाड़ खोल दिए।

"ओह ! तुम हो !" उसने संतोष के साथ कहा।

सुशील ने चकित होकर कहा—"तुमको आज हो क्या गया ? क्या परीक्षा में बैठने का इरादा नहीं है ? देखो, साढ़े पाँच कभी का बज गया और तुम्हारी नींद अब भी पूरी नहीं हुई। मैं आकर यदि तुम्हें न जगाता, तो शायद तुम अभी घंटों सोते रहते ! आखिर मामला क्या है ?"

अतुल सुशील की बातें चुपचाप सुनता रहा। क्या सही है और क्या ग़लत, इस विषय में वह मूक ही बना रहा। पिछली रात को उसने इसी सुशील की ओर जाते समय रास्ते में मन-ही-मन उसे बतलाने को जो-जो संकल्प किए थे, इस समय उनकी छाया भी उसके अवाक् कंठ को विचलित करने के लिये उत्थित न हो सकी।

तब सुशील ने आश्चर्य-चकित होकर कहा—"अच्छा, मुझे तो परीक्षा में बैठना ही है। अतएव मैं जाता हूँ। अब इतना अवकाश मुझे कहाँ कि सर्प-दंश के-से तुम्हारे इस मूँड को निर्विष करने के लिये तुम्हारे कान खींच-खींचकर उनमें मंत्रोच्चार का निर्घोष भरता रहूँ।"

वह उठकर चला गया।

अतुल भी अब झट से उठकर नित्य-कर्म में लग गया।

❀ ❀ ❀

अतुल का परीक्षा-फल आज प्रकाशित हो गया है। सुशीलचंद्र, केसरीमल, प्रतापनारायण, जीवनलाल और इमामअली उसके निकट बैठे हुए हैं। सभी अत्यधिक गंभीर

हैं, कोई किसी से कुछ कहता नहीं। मानो किसी को कुछ कहना नहीं है, अथवा कहना भी जो कुछ था, वह मानो विना कहे हुए भी कहा हुआ मान लिया गया है।

लेकिन परीक्षा-फल के उस समाचार-पत्र को अतुल बड़े ध्यान से देख रहा है। उसे इस बात की ज़रा भी चिंता नहीं कि ये लोग अपने मन में क्या कहते होंगे। कहते होंगे—अतुल अब भी उस संबंध में कुछ सोच ही रहा है। किंतु अब हो ही क्या सकता है। परंतु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। न-जाने क्यों अतुल आज इस संवाद-पत्र का शब्द-शब्द पढ़ लेना चाहता है।

अकस्मात् एक शीतल निःश्वास छोड़ते हुए अतुल की दृष्टि एक संवाद पर रुक गई है। संवाद ऐसा साधारण नहीं, किसी के प्राण-दंड हो जाने का है। उसका फोटोग्राफ़ भी उसके साथ दिया हुआ है।

धीरे-धीरे और तो सभी साथी सहानुभूति प्रकट करके चले गए, केवल सुशील रह गया। तब उसने पिछले दो-ढाई महीनों की आत्मकथा विधि-पूर्वक उसे बतलाई। उसे सुनकर सुशील अवाक् रह गया!

अंत में उसने सुशील से कहा—"मेरा फ़ेल हो जाना ही, सच पूछो तो, स्वाभाविक है। इस सृष्टि में यही एक वैचित्र्य मैं पा सका हूँ। हम अपने जीवन के जिस पल-प्रति-पल को इतना शृंखलित रखते हैं, समझ बैठते हैं कि हमीं

उसके एकमात्र अधिकारी हैं, उस क्षण हम यह भूल जाते हैं कि जिसने हमारे जीवन के उस पल-पल की रचना की है, उसका भी कोई विधान हो सकता है। हमारे लिये जो जीवन-भर का तत्त्व है, वही उसके लिये बालू का एक घरौंदा और उसका एक ही चतुर्मिलन हमारे चरम विध्वंस का कारण। उसके किस काम में कौन-सा तत्त्व निहित है, इसे कौन समझ सकता है!

*　　　*　　　*

अतुल आज अपने नगर का प्रसिद्ध वकील है।

कभी-कभी जब रात अधिक व्यतीत हो जाती है, तब अपने कमरे में लेटा हुआ वह अकस्मात् उठ बैठता है। सुषुप्तावस्था में उसे स्पष्ट बोध होता है कि कोई उसके कमरे के दरवाज़े पर खड़ा शीशे पर कुट्-कुट् कर रहा है। उसकी चेष्टा क्षुधार्त, उसका कंठ सूखा हुआ और अंग-अंग शिथिल है। बेचारा कह रहा है—"मैं तुम्हारे यहाँ ठहरूँगा नहीं; लेकिन ठंडा पानी तो तुम मुझे पिला ही सकते हो!"

और, अतुल की आँखें भर आती हैं।

मिठाईवाला

[१]

बहुत ही मीठे स्वरों के साथ वह गलियों में घूमता हुआ कहता—"बच्चों को बहलानेवाला, खिलौनेवाला।"

इस अधूरे वाक्य को वह ऐसे विचित्र, किंतु मादक-मधुर ढंग से गाकर कहता कि सुननेवाले एक बार अस्थिर हो उठते। उसके स्नेहाभिषिक्त कंठ से फूटा हुआ उपर्युक्त गान सुनकर निकट के मकानों में हलचल मच जाती। छोटे-छोटे बच्चों को अपनी गोद में लिए हुए युवतियाँ चिकों को उठाकर छज्जों पर से नीचे झाँकने लगतीं। गलियों और उनके अंतर्व्यापी छोटे-छोटे उद्यानों में खेलते और इठलाते हुए बच्चों का झुंड उसे घेर लेता, और तब वह खिलौनेवाला वहीं कहीं बैठाकर खिलौने की पेटी खोल देता।

बच्चे खिलौने देखकर पुलकित हो उठते। वे पैसे लाकर खिलौनों का मोल-भाव करने लगते। पूछते—"इछका दाम क्या है, औल इछका, औल इछका?" खिलौनेवाला बच्चों को देखता, उनकी नन्ही-नन्ही उँगलियों और हथेलियों से पैसे ले लेता, और बच्चों के इच्छानुसार उन्हें खिलौने दे देता। खिलौने लेकर फिर बच्चे उछलने-कूदने लगते और तब फिर खिलौनेवाला

उसी प्रकार गाकर कहता—"बच्चों को बहलानेवाला, खिलौने-वाला।" सागर की हिलोर की भाँति उसका यह मादक गान गली-भर के मकानों में, इस ओर से उस ओर तक, लहराता हुआ पहुँचता, और खिलौनेवाला आगे बढ़ जाता।

राय विजयबहादुर के बच्चे भी एक दिन खिलौने लेकर घर आए। वे दो बच्चे थे—चुन्नू और मुन्नू। चुन्नू जब खिलौना ले आया, तो बोला—"मेला घोला कैछा छुंदल ऐ!"

मुन्नू बोला—"औल देखो, मेला आती कैछा छुंदल ऐ!"

दोनो अपने हाथी-घोड़े लेकर घर-भर में उछलने लगे। इन बच्चों की मा, रोहिणी कुछ देर तक खड़े-खड़े उनका खेल निरखती रही। अंत में दोनो बच्चों को बुलाकर उसने उनसे पूछा—"अरे ओ चुन्नू-मुन्नू, ये खिलौने तुमने कितने में लिए हैं?"

मुन्नू बोला—"दो पैछे में। खिलौनेवाला दे गया ऐ।"

रोहिणी सोचने लगी—इतने सस्ते कैसे दे गया है? कैसे दे गया है, यह तो वही जाने। लेकिन दे तो गया ही है, इतना तो निश्चय है।

एक ज़रा-सी बात ठहरी। रोहिणी अपने काम में लग गई। फिर कभी उसे इस पर विचार करने की आवश्यकता ही भला क्यों पड़ती।

[२]

छ महीने बाद।

नगर-भर में दो-ही-चार दिनों में एक मुरलीवाले के आने का समाचार फैल गया। लोग कहने लगे—"भई वाह! मुरली बजाने में वह एक ही उस्ताद है। मुरली बजाकर, गाना सुनाकर वह मुरली बेचता भी है, सो भी दो-दो पैसे। भला, इसमें उसे क्या मिलता होगा! मेहनत भी तो न आती होगी।"

एक व्यक्ति ने पूछ दिया—"कैसा है वह मुरलीवाला, मैंने तो उसे नहीं देखा?"

उत्तर मिला—"उम्र तो उसकी अभी अधिक न होगी, यही तीस-बत्तीस का होगा। दुबला-पतला गोरा युवक है, बीकानेरी रंगीन साफ़ा बाँधता है।"

"वही तो नहीं, जो पहले खिलौने बेचा करता था?"

"क्या वह पहले खिलौने भी बेचता था?"

"हाँ, जो आकार-प्रकार तुमने बतलाया, उसी प्रकार का वह भी था।"

"तो वही होगा। पर भई, है वह एक ही उस्ताद।"

प्रतिदिन इसी प्रकार उस मुरलीवाले की चर्चा होती। प्रतिदिन नगर की प्रत्येक गली में उसका मादक, मृदुल स्वर सुनाई पड़ता—"बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला!"

रोहिणी ने भी मुरलीवाले का यह स्वर सुना। तुरंत ही उसे खिलौनेवाले का स्मरण हो आया। उसने मन-ही-मन कहा—खिलौनेवाला भी इसी तरह गा-गाकर खिलौने बेचा करता था।

रोहिणी उठकर अपने पति विजय बाबू के पास गई, बोली—"ज़रा उस मुरलीवाले को बुलाओ तो, चुन्नू-मुन्नू के लिये ले लूँ। क्या जाने यह फिर इधर आए, न आए। वे भी, जान पड़ता है, पार्क में खेलने निकल गए हैं।"

विजय बाबू एक समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उसी तरह उसे लिए हुए वे दरवाज़े पर आकर मुरलीवाले से बोले—"क्यों भई, किस तरह देते हो मुरली?"

किसी की टोपी गली में गिर पड़ी। किसी का जूता पार्क में ही छूट गया, और किसी की सोथनी (पाजामा) ही ढीली होकर लटक आई। इस तरह दौड़ते-हाँफते हुए बच्चा का झुंड आ पहुँचा। एक स्वर से सब बोल उठे—"अम बी लेंदे मुल्ली, औल अम बी लेंदे मुल्ली।"

मुरलीवाला हर्ष-गद्गद हो उठा। बोला—"सबको देंगे भैया। लेकिन ज़रा रुको, ज़रा ठहरो, एक-एक को लेने दो। अभी इतनी जल्दी हम कहीं लौट थोड़े ही जायँगे। बेचने तो आए ही हैं, और हैं भी इस समय मेरे पास एक-दो नहीं, पूरी सत्तावन।...हाँ बाबूजी, क्या पूछा था आपने, कितने में दीं?...दीं तो वैसे तीन-तीन पैसे के हिसाब से हैं, पर आपको दो-दो पैसे में ही दे दूँगा।"

विजय बाबू भीतर-बाहर दोनों रूपों में मुस्किरा दिए। मन-ही-मन कहने लगे—कैसा ठग है! देता सबको इसी भाव से है, पर मुझ पर उलटा एहसान लाद रहा है। फिर बोले—

"तुम लोगों की झूठ बोलने की आदत ही होती है। देते होगे सभी को दो-दो पैसे में, पर एहसान का बोझा मेरे ही ऊपर लाद रहे हो!"

मुरलीवाला एकदम अप्रतिभ हो उठा। बोला—"आपको क्या पता बाबूजी कि इनकी असली लागत क्या है। यह तो ग्राहकों का दस्तूर होता है कि दूकानदार चाहे हानि ही उठाकर चीज़ क्यों न बेचे, पर ग्राहक यही समझते हैं—दूकानदार मुझे लूट रहा है।...आप भला काहे को विश्वास करेंगे। लेकिन सच पूछिए, तो बाबूजी, इनका असली दाम दो ही पैसा है। आप कहीं से भी दो-दो पैसे में ये मुरलियाँ नहीं पा सकते। मैंने तो पूरी एक हज़ार बनवाई थीं, तब मुझे इस भाव पड़ी हैं।"

विजय बाबू बोले—"अच्छा-अच्छा, मुझे ज़्यादा वक्त नहीं, जल्दी से दो ठो निकाल दो।"

दो मुरलियाँ लेकर विजय बाबू फिर मकान के भीतर पहुँच गए।

मुरलीवाला देर तक उन बच्चों के झुंड में मुरलियाँ बेचता रहा। उसके पास कई रंग की मुरलियाँ थीं। बच्चे जो रंग पसंद करते, मुरलीवाला उसी रंग की मुरली निकाल देता।

"यह बड़ी अच्छी मुरली है, तुम यही ले लो बाबू, राजा बाबू, तुम्हारे लायक़ तो बस यह है।...हाँ, भैये, तुमको वही देंगे। ये लो।...तुमको वैसी न चाहिए, ऐसी चाहिए, यह नारंगी

रंग की, अच्छा, यही लो।…पैसे नहीं हैं ? अच्छा, अम्मा से पैसे ले आओ। मैं अभी बैठा हूँ। तुम ले आए पैसे ?…अच्छा, ये लो, तुम्हारे लिये मैंने पहले ही से यह निकाल रक्खी थी।… तुमको पैसे नहीं मिले ! तुमने अम्मा से ठीक तरह से माँगे न होंगे। धोती पकड़कर, पैरों में लिपटकर, अम्मा से पैसे माँगे जाते हैं बाबू। हाँ, फिर जाओ। अब की बार मिल जायँगे।...दुअन्नी है ? तो क्या हुआ, ये दो पैसे वापस लो। ठीक हो गया न हिसाब ?...मिल गए पैसे ! देखो, मैंने कैसी तरकीब बताई ! अच्छा, अब तो किसी को नहीं लेना है ? सब ले चुके ? तुम्हारी मा के पास पैसे नहीं हैं ? अच्छा, तुम भी यह लो। अच्छा, तो अब मैं चलता हूँ।"

इस तरह मुरलीवाला फिर आगे बढ़ गया।

[३]

आज अपने मकान में बैठी हुई रोहिणी मुरलीवाले की सारी बातें सुनती रही। आज भी उसने अनुभव किया, बच्चों के साथ इतने प्यार से बातें करनेवाला फेरीवाला पहले कभी नहीं आया। फिर वह सौदा भी कैसा सस्ता बेचता है। भला आदमी जान पड़ता है। समय की बात है, जो बेचारा इस तरह मारा-मारा फिरता है। पेट जो न कराए, सो थोड़ा।

इसी समय मुरलीवाले का क्षीण स्वर दूसरी निकट की गली से सुनाई पड़ा—"बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला !"

रोहिणी इसे सुनकर मन-ही-मन कहने लगी—और स्वर कैसा मीठा है इसका !

बहुत दिनों तक रोहिणी को मुरलीवाले का वह मीठा स्वर और उसकी बच्चों के प्रति वे स्नेह-सिक्त बातें याद आती रहीं। महीने-के-महीने आए और चले गए। पर मुरलीवाला न आया। धीरे-धीरे उसकी स्मृति भी क्षीण हो गई।

[४]

आठ मास बाद—

सरदी के दिन थे। रोहिणी स्नान करके अपने मकान की छत पर चढ़कर आजानुविलंबित केश-राशि सुखा रही थी। इसी समय नीचे की गली में सुनाई पड़ा—"बच्चों को बहलाने-वाला, मिठाईवाला !"

मिठाईवाले का स्वर उसके लिये परिचित था। झट-से रोहिणी नीचे उतर आई। उस समय उसके पति मकान में नहीं थे हाँ, उसकी वृद्धा दादी थी। रोहिणी उनके निकट आकर बोली—"दादी, चुन्नू-मुन्नू के लिये मिठाई लेनी है। जरा कमरे में चलकर ठहराओ तो। मैं उधर कैसे जाऊँ, कोई आता न हो। जरा हटकर मैं भी चिक की ओट में बैठी रहूँगी।"

दादी उठकर कमरे में आकर बोली—"ए मिठाईवाले, इधर आना।"

मिठाईवाला निकट आ गया। बोला—"कितनी मिठाई दूँ मा? ये नए तरह की मिठाइयाँ हैं—रंग-बिरंगी, कुछ-कुछ खट्टी, कुछ-कुछ मीठी, जायक़ेदार; बड़ी देर तक मुँह में टिकती हैं। जल्दी नहीं घुलतीं। बच्चे इन्हें बड़े चाव से चूसते हैं। इन गुणों के सिवा ये खाँसी भी दूर करती हैं। कितनी दूँ? चपटी, गोल और पहलदार गोलियाँ हैं। पैसे की सोलह देता हूँ।"

दादी बोली—"सोलह तो बहुत कम होती हैं, भला पचीस तो देते।"

मिठाईवाला—"नहीं दादी, अधिक नहीं दे सकता। इतनी भी कैसे देता हूँ, यह अब मैं तुम्हें क्या..। ख़ैर, मैं अधिक न दे सकूँगा।"

रोहिणी दादी के पास ही बैठी थी। बोली—"दादी, फिर भी काफ़ी सस्ती दे रहा है। चार पैसे की ले लो। ये पैसे रहे।"

मिठाईवाला मिठाइयाँ गिनने लगा।

"तो चार की दे दो। अच्छा, पचीस न सही, बीस ही दो। अरे हाँ, मैं बूढ़ी हुई, मोल-भाव अब मुझे ज्यादा कर आता भी नहीं।"—कहते हुए दादी के पोपले मुँह की ज़रा-सी मुस्किराहट भी फूट निकली।

रोहिणी ने दादी से कहा—"दादी, इससे पूछो, तुम इस शहर में और भी कभी आए थे, या पहली ही बार आए हो। यहाँ के निवासी तो तुम हो नहीं।"

दादी ने इस कथन को दोहराने की चेष्टा की ही थी कि मिठाईवाले ने उत्तर दिया—"पहली बार नहीं, और भी कई बार आ चुका हूँ।"

रोहिणी चिक की आड़ ही से बोली—"पहले यही मिठाई बेचते हुए आए थे, या और कोई चीज़ लेकर ?"

मिठाईवाला हर्ष, संशय और विस्मयादि भावों में डूबकर बोला—"इससे पहले मुरली लेकर आया था, और उससे भी पहले खिलौने लेकर।"

रोहिणी का अनुमान ठीक निकला। अब तो वह उससे और भी कुछ बातें पूछने के लिये अस्थिर हो उठी। वह बोली—"इन व्यवसायों में भला तुम्हें क्या मिलता होगा ?"

वह बोला—"मिलता भला क्या है ! यही, खाने-भर को मिल जाता है। कभी नहीं भी मिलता है। पर हाँ, संतोष, धीरज और कभी-कभी असीम सुख ज़रूर मिलता है। और यही मैं चाहता भी हूँ।"

"सो कैसे ? वह भी बताओ।"

"अब व्यर्थ उन बातों की क्यों चर्चा करूँ ? उन्हें आप जाने ही दें। उन बातों को सुनकर आपको दुःख ही होगा।"

"जब इतना बताया है, तब और भी बता दो। मैं बहुत उत्सुक हूँ। तुम्हारा हर्जा न होगा। मिठाई मैं और भी कुछ ले लूँगी।"

अतिशय गंभीरता के साथ मिठाईवाले ने कहा—"मैं भी अपने नगर का एक प्रतिष्ठित आदमी था। मकान,

व्यवसाय, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर, सभी कुछ था। स्त्री थी; छोटे-छोटे दो बच्चे भी थे। मेरा वह सोने का संसार था। बाहर संपत्ति का वैभव था, भीतर सांसारिक सुख का। स्त्री सुंदरी थी, मेरा प्राण थी। बच्चे ऐसे सुंदर थे, जैसे सोने के सजीव खिलौने। उनका अठखेलियों के मारे घर में कोलाहल मचा रहता था। समय की गति! विधाता की लीला! अब कोई नहीं है। दादी, प्राण निकाले नहीं निकले। इसीलिये अपने उन बच्चों की खोज में निकला हूँ। वे सब अंत में होंगे तो यहीं कहीं। आख़िर, कहीं-न-कहीं जन्मे ही होंगे। उस तरह रहता, तो घुल-घुलकर मरता। इस तरह सुख-संतोष के साथ मरूँगा। इस तरह के जीवन में कभी-कभी अपने उन बच्चों की एक झलक-सी मिल जाती है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे इन्हीं में उछल-उछलकर हँस-खेल रहे हैं। पैसों की कमी थोड़े ही है, आपकी दया से पैसे तो काफ़ी हैं। जो नहीं है, इस तरह उसी को पा जाता हूँ।"

रोहिणी ने अब मिठाईवाले की ओर देखा। देखा—उसकी आँखें आँसुओं से तर हैं।

इसी समय चुन्नू-मुन्नू आ गए। रोहिणी से लिपटकर, उसका अंचल पकड़कर बोले—"अम्मा, मिठाई!"

"मुझसे लो।"—कहकर, तत्काल काग़ज़ की दो पुड़ियाँ, मिठाइयों से भरी, मिठाईवाले ने चुन्नू-मुन्नू को दे दीं।

रोहिणी ने भीतर से पैसे फेंक दिए।

मिठाईवाले ने पेटी उठाई, और कहा--"अब इस बार ये पैसे न लूँगा।"

दादी बोली—"अरे-अरे, न-न, अपने पैसे लिए जा भाई !"

तब तक आगे फिर सुनाई पड़ा उसी प्रकार मादक, मृदुल स्वर में—"बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला !"

——— ———

वंशी-वादन

[१]

उसकी ओर इकटक देखकर राजकुमार ने पूछा—"रत्न-माला, सच कहना, जब तुमने मुझे पहलेपहल देखा, तब मैं तुम्हें कैसा प्रतीत हुआ ?"

रत्नमाला ने उत्फुल्ल होकर कहा—"चलो, तुम भी क्या वे बातें पूछते हो ?"

"नहीं, रत्नमाला, तुम्हें बतलाना होगा। मुझे इन बातों में बड़ा सुख मिलता है। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति यह जानने के लिये लालायित रहता है कि उसके संबंध में उसके विपक्षी मन की क्या धारणा है।" राजकुमार ने कहा।

रत्नमाला गंभीर हो गई।

उसने कहा—"मैंने देखा, तुम्हारी चितवन में एक प्रकार का सौम्य भाव है ; उसमें एक कल शांति प्रतिबिंबित है। देखा, तुम विचारशील व्यक्ति हो। तुम्हारे भीतर दृढ़ता का अविचल निवास है।"

"तो तुमने मेरे संबंध में बहुत अधिक सोच डाला था रत्नमाला। निश्चय ही तुम्हारी कल्पना बहुत ऊँची उठ गई

थी। तुम्हीं सोच देखो, मैं ऐसा कहाँ हूँ! मेरा व्यक्तित्व कितना दुर्बल और अस्थिर है! मैं जो कुछ सोचता हूँ, उसका शतांश भी तो नहीं कर पाता। मैं तो अपनी ही दृष्टि में गिरा हुआ, एक पतितात्मा हूँ। मैं कायर हूँ, नी…"

रत्नमाला ने उसे और आगे बढ़ने से रोक लिया—राजकुमार के मुँह पर हाथ रख दिया।

उसने कहा—"बस, अब और रहने दो। मैं जानती हूँ, तुम क्या हो। तुम्हें जानने के लिये मुझे किसी से कुछ सुनने की आवश्यकता नहीं।"

राजकुमार उसके कक्ष में टहलने लगा था।

रत्नमाला जैसे बैठी थी, वैसे ही बैठी रही।

राजकुमार ने वातायन से देखा—सामने कलिंदजा की श्यामल धारा है। लोग नौका पर विहार कर रहे हैं।

वह सोचने लगा—आह! ये लोग कितने सुखी हैं! एक मैं हूँ, जिसकी आशाएँ बंदिनी हैं—जिसका जीवन आधार-हीन।"

एक शीतल निःश्वास छोड़कर वह एकबारगी अस्थिर हो गया। उसके शुभ्र ललाट पर रेखाएँ खिंच गईं। वंकिम भ्रू-युग्म तन-से गए। कुछ कहना चाहा, पर अपने को मौन-संयम से कस लिया।

रत्नमाला स्थिर दृष्टि से राजकुमार का यह भाव-विपर्यय देख रही थी। अब वह उठकर, एक वीणा की सहवर्तिनी होकर

उसके तारों पर अपना अंगुलिसंचालन करने लगी। उसका लोभन, कल कंठ वीणा के मृदुल स्वरों के साथ मिलकर उस प्रासाद-भर में गूँजने लगा।

आवास के दूसरी ओर एक आसन पड़ा था। राजकुमार उसी पर बैठकर रत्नमाला का गायन सुनने लगा। उसने निश्चय किया, पूरा सुन लूँ, तब चलूँ; पर क्षण-भर में तो वह पूरा होनेवाला था नहीं। वह उठ खड़ा हुआ और रत्नमाला के निकट आकर बोला—"अब मैं चलता हूँ।"

रत्नमाला चकित हो उठी। गायन बंद करके वह बोली—"ऐसी क्या जल्दी है? आज कितने दिनों बाद आए हो, सोच देखो! फिर अभी कुछ खाना-पीना भी नहीं हुआ। ऐसे ही चले जाओगे! ऐसा कैसे हो सकता है?"

"आज कुछ नहीं खाऊँगा रत्नमाला। बिलकुल इच्छा नहीं है। ऐसे ही चला जाऊँगा। इंद्रप्रस्थ छोड़े हुए पाँच दिन हो गए।"

"पाँच दिन हो गए, तो क्या हुआ। एक दिन यहाँ ठहर ही जाओगे, तो क्या हो जायगा!"

"ठहर तो जाऊँ रत्नमाला। परंतु सुना है, महाराज आगरा आए हुए हैं। ऐसे समय मुझे इंद्रप्रस्थ में होना चाहिए था।"

राजकुमार का उर द्रुत गति से स्पंदित हो उठा था।

इसका एक कारण था। राजकुमार यथार्थ बात छिपाकर यह दूसरी ही (असत्य) बात कह रहे थे।

रत्नमाला ने चिंतित होकर पूछा—"ऐसी क्या बात है

आर्य ! तुम्हारे मुँह से आज यह नई बात सुन रही हूँ ! महाराज इंद्रप्रस्थ से चले आए हैं, तो क्या हुआ ? अमात्य तो हैं ! जान पड़ता है, इसमें कोई रहस्य है, जिसे तुम छिपा रहे हो, या उसे बतलाना अनावश्यक समझते हो !....मैं देखती हूँ, आज तुम्हारी चेष्टा भी कुछ म्लान है। तुम कुछ कहना चाहते हो, लेकिन कह नहीं पाते।"

राजकुमार कुछ बोल न सके।

रत्नमाला ने ध्यान से देखा, तो उसे प्रतीत हुआ, राजकुमार के नेत्रों की पुतलियों में एक प्रकार का चंचल और सतर्क आवेग है।

अब उसकी उपर्युक्त धारणा और भी दृढ़ हो गई।

[२]

इस बार जब से राजकुमार यशोनिधि आखेट से आए हैं, तब से महाराज प्रजापति उनसे बोले नहीं। इस कारण राजकीय अंतःपुर का वातावरण अत्यंत गंभीर हो गया है। महारानी तीर्थरेणु ने भी महाराज को बहुत समझाया, परंतु महाराज अपने व्रत से टस से मस न हुए। उन्होंने स्पष्ट रूप से महारानी से कहा—"जो व्यक्ति अपने वंश, जाति और देश के गौरव की रक्षा नहीं कर सकता, जो समाज की सत्ता का प्रतिबंध नहीं मानता, जो वर्णाश्रम-धर्म का उल्लंघन करने में नहीं हिचकता, वह न तो राजकुमार कहलाने योग्य है, न मेरा पुत्र हो सकता है। मैं तो उसे अपना पाप और विधाता

का अपने लिये एक निश्चित दंड मानता हूँ। वह अपनी इच्छाओं का दास है, मैं अपने कर्तव्य का अनुचर हूँ। दोनो का सामंजस्य कैसा ?"

महारानी ने कहा—"तुमने जो कुछ कहा, मैं उसे स्वीकार करती हूँ। परंतु मैं केवल यह कहना चाहती हूँ कि उसके साथ न्याय होना चाहिए। दूसरों पर न्याय करते समय हमें इस बात का भी ध्यान रखना उचित है कि स्थिति के अनुसार यदि हम स्वयं उसी रूप में हों, तो हम अपने लिये न्याय का कौन-सा अनुशासन उचित मानेंगे। मैं यह कहना चाहती हूँ कि महाराज पहले स्वयं अपने को देख लें, विचार कर लें कि उनके जीवन में भी कहीं कोई श्याम-चिह्न रहा है कि नहीं; तब वह राजकुमार को इतना अधिक दोषी ठहराएँ।"

यही मानव-प्रकृति की सबसे अधिक दुर्बलता का स्थल है। बहुत कम ऐसे सत्पुरुष दृष्टिगत होते हैं, जिनके सामने यदि उनका यथार्थ दोष प्रकट कर दिया जाय, तो भी वे अपनी विचार-शक्ति को समतल पर रक्खे रह सकें। इसके विपरीत अधिकतर देखा यही जाता है कि यथार्थ कथन ही अधिक प्राण-पीड़क होता है। महाराज प्रजापति में भी यही दोष था। महारानी ने ज्यों ही यह बात कही, त्यों ही वह भड़क उठे। उन्होंने कहा—"मूर्ख नारी! तुझे इस बात का क्या पता कि न्याय कितनी कठोर वस्तु है। न्यायाधीश यदि

यह सोच ले कि मुझमें भी ऐसी ही दुर्बलताएँ रही हैं या हैं, जैसी इस अपराधी में हैं, और वह यह सोचकर अपनी न्याय-तुला को थोड़ा शिथिल कर दे, तब तो समाज का संगठन, राज्य की शांति रसातल जा पहुँचे ! उससे जाकर कह दे कि यदि वह मेरी आज्ञा का उल्लंघन करेगा, तो राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त करने की आशा उसके लिये मृग-तृष्णा हो जायगी। बस, इससे अधिक इस विषय में मैं कुछ नहीं कहना चाहता।"

महारानी निराश होकर लौट आईं।

[३]

राजकुमार यशोनिधि जब सदा के लिये राज्य छोड़कर इंद्रप्रस्थ से प्रस्थान करने लगे, तब उनके अनुज कर्मनिधि ने आकर कहा—"भैया, तुम यह क्या कर रहे हो ? मुझे इस प्रकार अंधकार में क्यों छोड़े जाते हो ? पिता का पद बड़ा ऊँचा होता है। परंतु ज्येष्ठ बंधु की मान-मर्यादा भी पिता के समान ही मानी गई है। यही कारण है कि पिता की अनुपस्थिति में अनुज के लिये ज्येष्ठ बंधु ही पिता हो जाता है। महाराज भगवान् करें, सहस्र वर्ष राज्य करें ; परंतु आप ही सोच देखें, अंततः वह वृद्ध ही हैं। अधिक-से-अधिक दस या पंद्रह वर्ष के ही मेहमान हैं। अतएव ऐसे समय में आपका इस प्रकार रूठकर चला जाना कहाँ तक उचित है। आप इसका भी तो कुछ विचार कर लें।"

राजकुमार यशोनिधि के हृदय के भीतर अपने इस अनुज

के लिये कितना प्यार रहा है, संसार में इसे आज कौन जान सकता है! अपने उसी भाई की ओर देखकर, उसकी ये बातें सुनकर यशोनिधि के नेत्र भीग गए। परंतु क्षण-भर में ही उन्होंने अपने को सँभाल लिया।

उन्होंने कहा—"तुम्हारा यह 'कर्मनिधि' नाम महाराज से आग्रह करके मैंने ही रखवाया था। मुझे बड़ा सुख मिला, जब मैंने तुम्हें अपने नामानुरूप पाया। तुम मेरे लिये पुत्र के समान रहे हो। इसलिये भाई कर्म, मैं तुमसे क्या कहूँ! मैं विचारों का बड़ा दुर्बल प्राणी हूँ। पर मैंने अपने जीवन में इतना ही सीखा है कि मनुष्य का अपना सिद्धांत ही उसका जीवन है। जब मैं अपने सिद्धांतों का पालन करने के लिये स्वतंत्र नहीं हूँ, तब यह राज्य मेरे लिये बंदी-गृह के तुल्य है। मेरा विश्वास है कि हृदय का नाता वंश, जाति, संस्कृति और धर्म के बंधनों से सदा मुक्त रहा है। तुम अभी बच्चे हो। मैं और अधिक तुम्हें क्या बताऊँ। तुम्हारे जीवन की अनुभूतियाँ जैसे-जैसे बढ़ती जायँगी, वैसे-ही-वैसे, उत्तरोत्तर, मेरी इस बात का मर्म तुम समझते जाओगे। परंतु महाराज इस बात को नहीं मानते। नहीं मानते, तो न मानें; पर एक समय ऐसा आवेगा, जब अपनी इस भूल को वह स्वयं सहन न कर सकेंगे।

"हाँ, तो मैं अब चलता हूँ भाई कर्म! मैं तुम्हें यह आशीर्वाद दिए जाता हूँ कि तुम अपनी प्रजा के प्राण बनकर राज्य

करोगे, अतुल वैभव और समृद्धि तुम्हारे चरणों की सेविका बनकर रहेगी। तुम कभी किसी बात के लिये दुखी न होगे।"

युवराज कर्मनिधि ने ज्येष्ठ बंधु यशोनिधि की पद-रज अपने ललाट पर लगाई। दोनो भाई विलग होकर साश्रनयन विपरीत दिशाओं की ओर चल पड़े।

इस घटना को हुए बीस वर्ष व्यतीत हो गए।

महाराज प्रजापति ने सोचा था, आतंक दिखलाकर, राज्य का मोह सामने रखकर वह राजकुमार यशोनिधि पर विजयी होंगे। उन्होंने यह भी कल्पना की थी कि वह यदि राज्य छोड़कर कहीं चले भी जायँगे, तो कुछ कालक्षेप के अनंतर पुनः लौट आवेंगे। राजकुमार का जीवन व्यतीत करनेवाला व्यक्ति कितने दिन विरक्त रहकर साधारण जीवन यापन कर सकेगा! परंतु जब यशोनिधि को गए हुए अनेक वर्ष व्यतीत हो गए, तब उन्हें अनुभव होने लगा कि अब यशोनिधि के लौटने की आशा करना नितांत भूल है, और तब उन्हें बोध हुआ कि उनकी यह लड़ाई पिता और पुत्र की लड़ाई नहीं, वास्तव में सिद्धांतों की लड़ाई है। एक दिन आया, जब कर्मनिधि को राज्याधिकार देकर, काषाय वस्त्र धारणकर, महाराज प्रजापति भी 'हरिः शरणम्' कहते हुए उत्तराखंड की ओर चले गए।

[४]

कहानी लिखना बड़ा निष्ठुर कर्म है। एक के पश्चात् एक,

दुःखद-से-दुःखद प्राण-पीड़क घटनाएँ हो जाती हैं, तो भी कहानीकार को कुछ-न-कुछ कहना अवशेष रह ही जाता है। चाहे जैसी गंभीर बात हो, तो भी कहो। न कह सको, तो भी कहो। रुला लेने के पश्चात् यदि हँसा सको, तो भी न चूको। आप ज़रा विचारकर देखें, उसकी यह कैसी विवशता है!

और भी अनेक वर्ष व्यतीत हो गए।

संसार अब भी ज्यों-का-त्यों चल रहा था। महाराज कर्म-निधि अखिल भारत के एकमात्र अधिपति होकर अपनी राज-धानी इंद्रप्रस्थ में परम संतोष और शांति के साथ राज्य कर रहे थे। द्वापरयुग बीत चुका था। कलियुग का ही आलोक चतुर्दिक् फैला हुआ था।

एक दिन की बात है। मथुरा-नगरी अपने गौरव पर फूली न समाती थी। निखिल ब्रजमंडल अपने इस गरिमा-निवास में प्रवेश कर भगवान् मुरलीधर का वंशी-वादन देखने को उमड़ पड़ा था। कई मास से एक योगिराज अपनी शिष्य-मंडली के साथ इस नगर में ठहरे हुए थे। उन्होंने बतलाया था कि आज सभी कुंजों में, कदंब-शाखाओं की शीतल छाया में और सभी मंदिरों में यदि वंशी-वादन का महोत्सव मनाया जाय, तो भगवान् नंदनंदन किसी की वंशी में स्वयं अपने अधर लगा देंगे। आज वह स्वयं प्रकट होकर अपने अतीत के साथ क्रीड़ा करेंगे।

फिर क्या था! बात-की-बात में यह संवाद चतुर्दिक फैल

गया। एक महासमुद्र-सा उमड़ पड़ा। कलिंदजा का अखिल कूल कलकंठिनी मयूरियों से ऐसा गुंजायमान हो उठा कि निकट पहुँचे बिना किसी के शब्दों का कंपन कर्ण-पुटों पर आकर भी अपना अस्तित्व स्थिर, साकार नहीं कर पाता था। एक कोलाहल था प्रमोद के कलहास का, उल्लास की केलि-क्रीड़ा का, नंदनंदन के वंशी-वादन में अमृत-वर्षण का।

युवकों और युवतियों के दल सुसज्जित होने लगे। किसी ने कहा—"वह ब्रह्मचारियों के बालसखा थे। कौन जाने, यह अमरत्व आज मुझे ही उपलब्ध हो जाय! वह भक्त-वत्सल हैं, अपने अभिन्न-हृदयों के सहचर। तब क्या यह संभव नहीं कि वह आज मुझे ही कृतार्थ कर दें?"

आज इन युवकों के मनों में उल्लास फूला-फूला फिरता था, उत्साह तरंग-संकुलित हो-होकर आलोड़ित हो चला था।

युवतियाँ सोचती थीं—"वह सौंदर्य के कणों में अपनी आत्मा का निवास मानते थे। उन्होंने कहा है—जो सुंदर से भी सुंदर है, मधुर से भी मधुर, प्रिय से भी प्रिय—फिर वह चाहे जहाँ हो—वहीं मैं हूँ। फिर क्या आश्चर्य, कहीं वह इसी ओर अपनी अलक-झलक घुमा दें—मेरे ही वंशी-वादन में समाविष्ट होकर गूँज उठें।"

यमुना के उसी कूल पर, जहाँ तिल रखने को जगह न थी, एक ओर तीन मंज़िल की एक कोठी खड़ी थी। उसकी स्वामिनी एक वेश्या थी। उसका नाम था श्यामा। उसके

केश पक गए थे, उसके तरुण जीवन की लोल लहरियाँ, उसकी उन्मद कामनाएँ शिथिल हो-होकर अनंत की ओर प्रयाण कर रही थीं। उसके भविष्य की आशा-वल्लरी यदि कोई थी, तो उसकी एक कन्या। वह इस महल में एकांत-वास करती थी। उसका आवास अलग एक मंदिर से संयुक्त था। उसका वय तो अब तीस वर्ष का हो रहा था; पर ऐसा भास होता था, जैसे उसके यौवन में अभी मदिर अनंग-वल्लरियों ने, वासना के वातायन से, प्रवेश नहीं कर पाया है। 'संध्या' उसका प्यारा-प्यारा, सलोना नाम था। वह थी चंपकली-सी मृदुल, रजनी-गंधा-सी सौरभ-हिलोर, निर्झरिणी-सी कल्लोल-मयी और अनंग-लता-सी रूपसि।

वह संध्या भी इस महोत्सव में सम्मिलित होना चाहती थी।

श्यामा बोली—"तू वंशी तो बजा लेगी, यह मैं मानती हूँ; पर तुझे इस प्रतियोगिता में कोई सम्मिलित भी करेगा ?"

मा का यह कथन संध्या के हृदय में तीर की भाँति चुभ गया। उसका उल्लास धराशायी हो गया—उसकी नवल कामना कुम्हला गई। वह शिथिल-अंगना भीतर-ही-भीतर कराहती रह गई।

अपनी पुत्री को यह दशा देखकर श्यामा भी बहुत दुखी हुई।

[५]

योगिराज ने बतलाया था, यह वंशी-वादन बड़े मनोयोग से

होना चाहिए। इस महत्कार्य में जिस किसी को इतनी तन्मयता प्राप्त हो जायगी कि वह अपने को भूल जायगा, भगवान् की वास्तविक प्रीति का अधिकारी वही होगा।

योगिराज प्रत्येक महोत्सव-स्थल में गए, प्रत्येक वन-वाटिका, कुंज-कदंब का उन्होंने पर्यवेक्षण किया। अंतर्दृष्टि को समधिक जागरूक बनाकर उन्होंने सभी वंशी-वादकों की स्वर-लहरी का संतालन किया; पर कहीं भी वह तन्मयता उन्हें दृष्टिगत न हुई।

तब तो योगिराज बहुत अधीर हो उठे। उन्हें चिंता-लीन देखकर उनके एक प्रमुख शिष्य ने पूछा—"आर्य, आज यह नई बात कैसी ? आप ऐसे व्याकुल कभी नहीं हुए। आपकी इस व्यथा का कारण क्या है ? वंशी-वादन के ऐसे स्वर्ग-विनिंदक अवसर पर जब आपको प्रफुल्ल-लोचन होना चाहिए था, तब आप ऐसे उदासीन क्यों देख पड़ रहे हैं !"

वह गंभीरमना होकर बोले—"वत्स, अनेक वर्षों की अहर्निश तपस्या के पश्चात् एकाएक मेरे अंतःकरण में एक बात आई थी। वह यह कि यदि वंशी-वादन का एक महोत्सव मनाया जायगा, तो उसमें भगवान् का दर्शन मुझे हो जायगा। इसीलिये मैंने प्राण-पण से इस महोत्सव को सफल बनाने की चेष्टा की थी। पर, जान पड़ता है, प्रभु की वैसी इच्छा नहीं हुई। वह मेरे मन का एक प्रमाद था। इस महानगरी का एक-एक कोना मैंने देख डाला, परंतु उन अंतर्यामी का वह

प्राण-प्रद स्वर मुझे कहीं नहीं मिला। मैंने प्रतिज्ञा की है कि यदि भगवान् का दर्शन आज न हुआ, यदि आज भी उनकी स्वर-लहरी मेरे कर्ण-गोचर न हुई, तो मैं सायंकाल होते-होते सदा के लिये समाधि ले लूँगा।"

सभी शिष्य निःशब्द रहे। किसी के मुँह से कोई बात न निकल सकी।

प्रमुख शिष्य ने उत्तर दिया—"परंतु देव, अभी आपने सभी मंदिरों का अवलोकन ही कहाँ किया! आइए, चलिए, अभी जो मंदिर शेष रह गए हैं, उन्हें भी देख आवें।"

योगिराज कुछ संतोष प्राप्तकर बोले—"ऐसी बात है, तो चलो। संभव है, खोजने में मुझसे ही भूल हो गई हो।"

प्रमुख शिष्य योगिराज को श्यामा की कोठी की ओर ले चला। एक मंदिर इस कोठी में भी सम्मिलित था। योगिराज वहाँ पहुँचे, तो क्या देखते हैं, एक कनक-लता-सी अंगना मूर्च्छित पड़ी हुई है; वंशी अब भी उसके अधरों के निकट ही है।

प्रमुख शिष्य की दृष्टि उसके कलेवर की ओर थी। उसने देखा, उसके अरुणारे अधरों से कभी-कभी कोई अस्पष्ट स्वर फूट पड़ता है। साथ ही उसके प्रश्वास-प्रकंपित वक्षोजांबुज कभी-कभी उन्मद तरंगोत्तोलन कर उठते हैं।

पुजारी ने बतलाया—"बड़ी देर तक वह रोती रही। जब उसका जी न माना, तब वह प्रत्येक महोत्सव-स्थल में गई; पर

निराश और शिथिल होकर लौट आई। उसके पद-पल्लव दुखने लगे। पुनः बड़ी देर तक वह स्वयं अपने इसी मंदिर में भगवान् वंशीधर के सामने मुरली बजाती रही। और तब, अंत में मेरे देखते-देखते, मूर्च्छित हो गई।"

यागिराज के अंतःकरण में अनेक भावनाओं का आरोहण-अवरोहण हुआ। उनकी आत्मा सशंकित हो उठी। उन्होंने कहा—"बस, अब मैं चलता हूँ। जान पड़ता है, वह आए थे।"

❀ ❀ ❀

प्रमुख शिष्य ने उस बाला पर शीतल वारि-बुंद छिड़ककर व्यजन डुलाते हुए कहा—"उठो रत्नमाला, अब तो उठो। पिताजी का अग्नि-संस्कार करना है।"

और, रत्नमाला के पलक-युग्म खुल उठे।

हत्यारा

[१]

उस दिन एक मित्र के यहाँ बैठा हुआ था। उस बैठक में, मेरे पहुँचने से पूर्व, और भी कई व्यक्ति बैठे वार्तालाप कर रहे थे, और वे सभी मेरे पूर्व-परिचित थे। कुछ तो मेरे नित्य के मिलनेवालों में से थे। मैं भी उन्हीं के निकट बैठकर उस विनोद-वार्ता में सम्मिलित हो गया।

बात चल रही थी विपिन के संबंध की। वही विपिन, जो अभी कल तक हम लोगों के साथ खेला-खाया है। सभी लोग उसके विरुद्ध, एक विशेष प्रकार का अपराध लगाकर, उस पर अपना रोष प्रकट कर रहे थे। मैं विपिन से परिचित अवश्य हूँ. किंतु उसके जीवन के साथ मेरा कोई ऐसा आत्मीय संबंध नहीं रहा कि उसके विषय में कोई प्रामाणिक बात कह सकता, अतएव मैं उस समय केवल श्रोता के रूप में बैठा हुआ सब बातें सुनता जा रहा था।

दिवाकर कह रहा था—"इस व्यक्ति का मैं बहुत आदर करता था। समय-समय पर मैंने उसे आर्थिक सहायता भी, यथाशक्ति, पहुँचाई थी। उसकी दुःख और दैन्य से पीड़ित, म्लान मुद्रा मुझसे जब देखी न जाती थी, तब मेरे जी में

यही आता था कि जैसे बने, वैसे इसकी सहायता करते रहो। किंतु उसने सदा मुझे धोखे में रक्खा। वह बराबर मुझे चकमा देता रहा, और मैं सदा उसके आगे बेवक़ूफ़ बनता रहा। मेरी सहृदयता से उसने कितना अनुचित लाभ उठाया, यह मैं ही जानता हूँ। किंतु अब उसके प्रति मैं किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं रखना चाहता। उसका नाम सुनकर मेरा रोआँ-रोआँ जल उठता है। मैं उसे कुछ सबक़ देना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ, उसे पता चल जाय कि जिन व्यक्तियों की आँखों में धूल झोंकने की उसने सतत चेष्टा की है, वे भी आख़िरकार मनुष्य हैं, और सर्प खेलाना जानते हैं।"

दिवाकर की चेष्टा अपने इस कथन को लेकर इतनी विकृत हो रही थी कि प्रत्येक शब्द के साथ उसकी अंतर्ज्वाला, लाल-लाल लपटों के रूप में, उत्तरोत्तर अग्रसर होती चली आती प्रतीत होती थी।

गोविंद उत्तेजित नहीं था। विपिन के संबंध में वह अपना अनुभव हँस-हँसकर, रस की चुसकियाँ ले-लेकर व्यक्त कर रहा था। उसका कहना था, यह आदमी बड़े मज़े का निकला! सदा इसे रुपए की ज़रूरत बनी रहती थी, किंतु मुँह खोलकर कभी इसने मुझसे एक टका तक नहीं माँगा! हाँ, बात पड़ने पर ऐसा दैन्य व्यक्त करता था, ऐसी रोनी सूरत बना लेता था कि दो-एक रुपए उसे दिए बिना मुझे अपने भीतर कुछ परेशानी-सी अनुभव होने लगती थी। किंतु

अपने उस पैसे को पानी में फेकते रहने का मुझे ज़रा भी अफ़सोस नहीं। अभिनय-कला में वह इतना कुशल है कि मुझे उससे मात खानी पड़ी है। वह विजेता है। मैं उसके आगे पराजित हुआ हूँ। इसलिये उसके प्रति मेरे हृदय में द्वेष न होकर एक तरह की झेंप ही है भाई साहब! मिलेगा, तो और बात पीछे करूँगा, पहले हाथ जोड़कर, उसका चरण स्पर्श करके, कहूँगा—आज मैं मान गया कि तुम मेरे गुरू हो!

रमेश की स्थिति दूसरे प्रकार की था। बात कहने से पूर्व उसने उपस्थित व्यक्तियों की ओर एक बार ध्यान से देखा। शायद वह यह देख लेना चाहता था कि..... शर्माजी तो कहीं किसी कोने में छिपे हुए नहीं बैठे हैं; क्योंकि उनके आगे वह उस बात को प्रकट नहीं करना चाहता था। तदनंतर, स्वर को ज़रा मंद करके, वासना-लोलुप मुद्रा में, सिर को ज़रा लचाकर उसने कहा—"रुपया चाहे वह मुझसे बराबर लेता रहता, किंतु एक बार—हाँ, केवल एक बार—मेना से बात तो कर लेने देता।"

रमेश की बात सुनते ही एक छोर से दूसरे छोर तक लालसा की एक लोल हिलोर सबकी मुखाकृतियों पर दौड़ गई।

रतन अभी तक चुपचाप बैठा हुआ था। बोला—"क्या उसकी स्त्री इतनी सुंदर है कि......"

"ऐसी-वैसी मामूली सुंदर नहीं।" रमेश बोला—"अंग-अंग जैसे ताज़े गुलाब के फूलों से ही बना हो, इतनी सुंदर है वह!"

गोविंद इसी क्षण बोल उठा—"लेकिन विवाहिता स्त्री तो वह हो नहीं सकती ; यह मैं निश्चय-पूर्वक कह सकता हूँ।"

"और उस बदमाश ने मुझसे कहा था—'वह मेरी बहन है !'" दिवाकर बोल उठा। क्षण-भर के लिये कमरे में सन्नाटा छा गया।

सबको मौन देखकर रतन बोला—"पर कितने आश्चर्य की बात है कि वर्षों से वह आप लोगों का मित्र है, किंतु आप लोग उसके संबंध में अब तक इतने अँधेरे में रहे।"

"लेकिन गोविंद, तुम्हें यह कैसे मालूम हुआ कि वह उसकी विवाहिता स्त्री नहीं ?" रमेश ने तनिक स्थिर रहकर उसकी बात पर अपना संदेह प्रकट करते हुए पूछा।

अप्रत्याशित वितृष्णा से, आतुरता के साथ, गोविंद बोला—"हाँ, इतना मैं कह सकता हूँ। अनेक पढ़े-लिखे, सभ्य और संभ्रांत परिवारों की स्त्रियों के साथ रहने और मिलने-जुलने का मुझे अवसर मिला है ; किंतु किसी को पति के साथ इतनी रूक्षता से पेश आते मैंने कभी नहीं देखा।"

इसी क्षण रमेश बोल उठा—"गोविंद बाबू की बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। मेरी धारणा है, स्त्री-पुरुष के संबंधों के विषय में उनका अनुभव बहुत संकुचित है। संसार कितना विस्तृत है, जीवन-रूपी महासमुद्र कितना अगाध, गोविंद को अभी तक मालूम नहीं हो सका। स्त्री पुरुष के लिये क्या है, और पुरुष स्त्री के लिये क्या ?—यह बड़ा जटिल प्रश्न

है। मेरा ख़याल है, यह एक ऐसा विषय है, जिसमें सीमाएँ नहीं स्थिर की जा सकतीं।"

दिवाकर और रतन एक साथ बोल उठे—"आप ठीक कहते हैं। मैं भी ऐसा ही समझता हूँ।"

"किंतु यहाँ प्रश्न तो यह है" अकेले दिवाकर ने कहा—"कि उस धूर्त विपिन ने सबको उल्लू बनाया, और हम सब लोग उसके सामने बिलकुल अबोध बालक सिद्ध हुए। कल एक महाशय ने मुझसे एक अजीब बात कही।"

इस पर सब लोग दिवाकर की ओर उत्सुकता से देखने लगे। इसी समय शर्माजी आ गए। साथ ही पान की तश्तरी नौकर ने लाकर रतन को दे दी। रतन ने उसे सबके आगे घुमा दिया। फिर नौकर सिगरेट का डब्बा तथा दियासलाई ले आया। रमेश और गोविंद ने सिगरेट का भी एक-एक कश लिया। सब लोग जब ज़रा इतमीनान के साथ बैठ गए, तब दिवाकर बोला—"उन्होंने बतलाया कि विपिन जिस स्त्री को अपने साथ रक्खे हुए है, वह तो बनारस की वेश्या है।"

"...तो मेना वेश्या है?" विस्मयाकुल होकर रमेश ने पूछा।

दिवाकर बोला—"बतलानेवाले व्यक्ति की बात का मैंने कभी अविश्वास नहीं किया।"

गोविंद ने कहा—"रमेश, तुम तो उसके घर हो आए हो। चल सकते हो हम लोगों को लेकर? आज इन मामाजी को मैं ज़रा समझना चाहता हूँ।"

रमेश ने कहा—"क्यों नहीं चल सकता ? न चल सकने की तो ऐसी कोई बात नहीं।"

कई लोग एक साथ उठ खड़े हुए।

दिवाकर अपने को सँभाल न सका। बोला—"लेकिन जिन लोगों को अपने घर किसी प्रकार का समाचार भेजने की आवश्यकता हो, मेरी प्रार्थना है, वे न चलें। मैं साफ़ कहे देता हूँ कि अपनी रक्षा के लिये मैं हर समय अपने साथ रिवाल्वर रखता हूँ।"

एक बार कमरे में फिर आतंक छा गया। सब लोगों के साथ-साथ पहले रतन भी उठा था, किंतु फिर सोच-समझकर वहीं बैठ गया। चलते हुए गोविंद शर्माजी की ओर लक्ष करके बोला—"हम लोग अभी एक घंटे में लौटकर आते हैं शर्माजी।"

शर्माजी बोले—"किसी तरह का गड़बड़ न होने पाए गोविंद ! दिवाकर की लगाम तुम अपने हाथ में रखना।"

गोविंद "अच्छी बात है।" कहकर दोस्तों के साथ चल दिया।

[२]

शर्माजी के मकान के द्वार पर आते ही सबसे पहले मैंने ही इस मंडली का मौन भंग किया। गोविंद से पूछा—"इस विपिन को यहाँ आते-जाते तो मैं वर्षों से देखता हूँ, किंतु अभी तक मैं भी उसका कुछ अधिक परिचय नहीं प्राप्त कर सका।"

दिवाकर बोल उठा—"जो कुछ भी हम लोगों को मालूम है, अब तो वह सब ग़लत सिद्ध हो रहा है। ऐसी दशा में उसके संबंध में निश्चय रूप से कोई बात नहीं कही जा सकती।"

"तो भी उसने जो कुछ हम लोगों को बतलाया है," गोविंद ने कहा—"संक्षेप में वह यह है कि यह विपिन एक बहुत बड़े आदमी का एकमात्र पुत्र है। उसके घर में देन-लेन का कार-बार बहुत ऊँचे पैमाने पर होता है। यह कारबार पुश्तैनी है। बनारस में उसकी एक बड़ी कोठी है। मोटर, पालकी-गाड़ी, नौकर-चाकर, सभी कुछ है—ग़रज़े कि वह अपने घर का काफ़ी संपन्न व्यक्ति है। किंतु पिता से मतभेद रखने के कारण यहाँ निर्वासित की भाँति रहता है। किसी प्रकार की आर्थिक सहायता उसे पिता के यहाँ से नहीं मिलती। कुछ काल तक तो वह किसी तरह अपना काम चला लेता रहा, किंतु फिर जब खाने-पीने की भी तकलीफ़ होने लगी, तब दिवाकर भाई ने एक मिल के ऑफ़िस में उसे चालीस रुपए मासिक का काम दिला दिया था। कुछ दिनों तक तो विपिन वहाँ काम करता रहा, किंतु फिर सुना कि असिस्टेंट मैनेजर से लड़-झगड़कर वहाँ से वह आप ही अलग हो गया। इधर साल-भर से वह बेकार रहा है। उसके साथ जो स्त्री रहती है, उसके संबंध की बातें आप अभी सुन ही चुके हैं।"

मैं इन लोगों के साथ चल ता रहा हूँ, किंतु मैं अभी ख़ुद

भी यह नहीं जानता कि विवाद या बखेड़ा खड़ा हो उठने पर मैं किस ओर जाऊँगा—किसके पक्ष को अपना समझूँगा। दिवाकर को तो अपने रिवाल्वर का अवलंब है। गोविंद और रमेश, संभव है, बाहु-बल का भरोसा ही मुख्य मानते हों, किंतु मैं कैसे बतलाऊँ, मैं किस अवलंब पर आधारित हूँ।

इसी समय मैंने कहा—"हालाँकि आप लोग पृथक्-पृथक् रूप से अपना-अपना वक्तव्य शर्माजी के यहाँ अभी दे चुके हैं; तथापि क्या मैं एक-दो वाक्यों में एक बार फिर आप लोगों की शिकायतें सुन सकता हूँ ?"

इस पर सब लोगों ने एक बार मेरी ओर संदेह की दृष्टि से देखा। दिवाकर बोला—"मेरी शिकायत यह है कि उसने एक वेश्या को अपने घर रख छोड़ा है। धूर्तता से हम लोगों से रुपया ऐंठकर वह उसके साथ ऐश करता और हमें उल्लू बनाता है।"

इस पर रमेश और गोविंद ने भी एक साथ कह दिया—"बस, यही शिकायत उससे मुझे भी है।"

मैं चुपचाप इन मित्रों के साथ विपिन के घर की ओर जा रहा हूँ। अब मुझे इन लोगों से किसी प्रकार का कोई प्रश्न नहीं करना। प्रश्न जो हैं, वे बने हैं। किंतु उन्हें इस मंडली के आगे मैं उठाना नहीं चाहता। उन प्रश्नों की जड़ में जो एक प्रकार की आँधी है, अपने इन चर्म-चक्षुओं से ये लोग उसे देख भी सकेंगे, इसीलिये मैं मौन हूँ।

विपिन की इन लोगों ने समय-समय पर आर्थिक सहायता

की है। तभी शायद वे इतना अधिकार रखते हैं कि उसके जीवन को चाहें, तो धज्जी-धज्जी करके नोच डालें! विपिन गया-गुज़रा है, आर्थिक हीनता ने उसकी आत्मा के मानवी दर्प को शायद इतना निर्जीव बना डाला है कि वह इन लोगों का यह आकस्मिक रोष भी सहन कर ले जायगा। किंतु मेना तो विपिन नहीं है। तब उसके संबंध में इस प्रकार के प्रश्न करने का इन्हें अधिकार क्या है?

मेना स्त्री है; वेश्या भी वह शायद हो। किंतु यदि वह स्त्री और वेश्या होकर भी विपिन की बहन हो, तो? लाल-लाल आँखें मुझे भी कर आती हैं। धमकियाँ दे लेने का अभ्यास तो मैंने नहीं किया, लेकिन ज़रूरत पड़ने पर शायद इस स्वयंभू केसरी दिवाकर को भी, मेरे स्वरूप का परिचय मिलने पर, इस बात का पता चल जायगा कि वह कितने पानी में है। किंतु विपिन का स्वाभिमान यदि मर नहीं गया है, तो मेरी इच्छा है कि वह ललकारकर कह दे कि मेना कोई भी हो, वह उसकी है; और उसके संबंध में किसी प्रकार के शंका-समाधान की वह ज़रूरत नहीं समझता।

गोविंद इसी समय बोल उठा—"इधर कई दिन से वह देख नहीं पड़ा। संभव है, घर पर भी न मिले।"

दिवाकर ने कह दिया—"परसों प्रातःकाल तो मुझे माल-रोड पर मिला था। मैंने पूछा—'कहाँ'? तो बोला—'डॉक्टर से कुछ ज़रूरी काम है।'"

"उस बंगाली डॉक्टर—अरे, उस घोषाल—को तो तुम जानते हो न दिवाकर?" रमेश ने कहा—"बस, उसी के यहाँ वह अक्सर जाता रहता है। साइकिल पर जाते हुए मैंने कई बार उसे उसके यहाँ बैठे देखा है।"

गोविंद बोला—"संभव है, मेना बीमार हो, और इसीलिये वह शर्माजी के यहाँ न आ सका हो!"

"ग़लत बात है।" रमेश ने दृढ़ता से कहा—"अभी उस दिन मैंने उसे श्याम-टाकीज़ के मेटिनी शो की भीड़ से निकलते देखा था। हलके हरे रंग की एक ख़ुशनुमा साड़ी पहने हुए थी वह, और पैरों में आसमानी मख़मल की कामदार जूती।"

गोविंद रमेश की ओर देखकर मुस्किराने लगा। बोला—"मालूम होता है, मेना की वह मूर्ति रात-दिन तुम्हारी आँखों के सामने नाचा करती है!"

रमेश कुछ बोला नहीं, और मैंने देखा, वह कुछ सोच रहा है। वह कुछ गंभीर है, और उसकी गति भी पहले की अपेक्षा कुछ मंद हो गई है। किसी प्रकार का उत्साह उसमें नहीं देख पड़ रहा था। प्रतीत हुआ, जैसे गोविद की आशंका ने उसकी भाव-धारा के बीच किसी पुष्करिणी को लाकर उपस्थित कर दिया है।

अनुकूल अवसर देखकर उसी क्षण मैंने उससे पूछा—"नारी को तुमने क्या समझ पाया है रमेश बाबू?"

वह उस समय ऐसा चौंक पड़ा, जैसे स्वप्न-भंग हो। बोला—"नारी? नारी को मैं मानव-जीवन की सृष्टि, शक्ति और मरीचिका मानता हूँ।"

गोविंद ने उसी क्षण पहले रमेश की ओर देखा, फिर मेरी ओर। तब मैंने टोक दिया। पूछा—"तुम क्या सोचते हो?"

"मैं कविता करना तो जानता नहीं। फ़िलॉसफ़ी भी मेरी कल्पना से बाहर की चीज़ है। एक अनारी की तरह मैं तो नारी को केवल भोग की चीज़ समझता हूँ!"

दिवाकर बोला—"इस विषय में यह दूसरा विपिन है।"

"और कितनी दूर है उसका मकान, रमेश?" गोविंद ने इसी समय पूछा।

रमेश बोला—"बस, अब हम लोग उसके सामने खड़े हैं।"

[३]

खुले हुए कमरे में सब लोग, विना किसी तरह की पुकार किए, सड़क से लगी हुई सीढ़ियों से, चढ़ते चले गए।

विपिन अन्यमनस्क भाव से, चुपचाप, अपने कमरे में, दीवार के सहारे, बैठा हुआ था। दाढ़ी कई दिन की बढ़ी हुई थी। सिर के केश बिखरे हुए थे, और न तो उनमें तेल छू गया था, न कंघा। आँखें लाल थीं, और ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह कई रात का जगा हुआ है। जिस कमरे में वह बैठा हुआ था, उसके बीचोबीच भीतर की ओर ले जानेवाला

दरवाज़ा इस समय बिलकुल खुला हुआ था। परदा एक ओर को समेटा हुआ था। एक ओर रक्खी हुई टेबिल पर धूल जमी हुई थी। कई दिन से कमरा साफ़ नहीं किया गया था। अंदर की ओर कुछ शीशियाँ ज़मीन पर लुढ़की फैली पड़ी हुई थीं; कहीं अलमोनियम की कटोरियाँ, कहीं शीशे के गिलास और शराब की बोतलों के टुकड़े उसी विशृंखलता से जा मिले थे। डेट-पैड बदला नहीं गया था। लालटेन का शीशा बिलकुल काला पड़ा हुआ था, और वह एक ओर लुढ़की पड़ी थी। मकान-भर में एक प्रकार की नग्न शून्यता आच्छन्न होकर रह गई थी।

जाते ही सबसे पहले रमेश आगे बढ़कर बोला—"अरे! यह सब मैं क्या देख रहा हूँ विपिन भाई!"

सब लोग खड़े-के-खड़े रह गए। विस्मय, दुश्चिंता और भयानकता का आतंक, एक छोर से दूसरे छोर तक, सबके चेहरों पर, छाकर रह गया!

विपिन कुछ बोला नहीं। केवल आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखता रह गया!

दिवाकर ने भयाकुल वाणी में पूछा—"बात क्या है, कुछ तो कहो विपिन? कई दिन से मिले नहीं। हम लोग परेशान हैं कि आख़िर मामला क्या है?"

रमेश ने कातर कंठ से कहा—"घर में भी कोई देख नहीं पड़ता। देवीजी कहाँ गईं?" और उसके बाहु पर हाथ रखकर उसे ज़रा-सा हिला दिया।

विपिन अब भी कुछ बोल न सका। वह मूर्च्छित होकर वहीं लुढ़क गया।

तब बढ़कर दिवाकर ने उसके एक ओर मुड़े हुए सिर को सँभाल दिया। फिर गोविंद से कहा—"जाओ, जल्दी-से-जल्दी जो कोई भी डॉक्टर मिले, लिवा लाओ। रमेश, तुम इस रूमाल को पानी से भिगो तो लाओ। पंखा भी एक, फ़ौरन्। और पानी भी एक लोटे में।"

रमेश भीतर जाकर पाइप से रूमाल भिगो लाया। मैंने पंखा लाकर विपिन के ऊपर डुलाना प्रारंभ कर दिया। दिवाकर ने पहले आँखों की पलकों पर पानी की बूँदें डालीं, फिर सिर पर पानी छोड़कर उसे थपथपाया।

पाँच मिनट के अनंतर विपिन की पलकें हिल उठीं। रमेश ने पहले पानी छिड़ककर उस कमरे के फ़र्श को कपड़े से साफ़ किया, फिर कुर्सी-टेबिल की धूल झाड़ी। इसी समय डॉक्टर आ गए। बोले—"ओह, इनकी वाइफ़ की, अभी परसों, डेथ हो गई है!"

सब लोग अवसन्न हो उठे। रमेश की आँखें भर आईं।

विपिन ने आँखें खोल दीं।

डॉक्टर ने नब्ज़ देखी, फिर हृदय की गति। उसे कुछ आशंका हुई। उसने झट उसका पेट टटोला, और उसी क्षण वह बोल उठा—"पेट बिलकुल ख़ाली है। जान पड़ता है, खाना नहीं खा सके।...घबराने की ज़रूरत नहीं।"

गोविंद मकान के भीतर जाकर चारपाई और बिस्तर ले आया। उसी कमरे में एक ओर चारपाई बिछा दी गई।

डॉक्टर कुरसी पर बैठकर प्रिस्क्रिप्शन लिख रहा था। बोला—"यह कमज़ोर बहुत हो गए हैं। यह दवा तीन ख़ुराक पिलानी होगी। खाने को गुनगुना दूध जितना पी सकें, दे देना। चार-पाँच संतरे का रस भी दे सकते हो।"

दिवाकर ने पाँच रुपए का नोट देकर उसे बिदा किया।

गोविंद गरम दूध ले आया। रमेश ने विपिन को साध लिया। दिवाकर ने धीरे-धीरे पाव-भर दूध उसे पिला दिया।

अब हम सब लोगों ने मिलकर विपिन को चारपाई पर लिटा दिया। कुरसियाँ दो ही थीं। इसलिये एक पर बैठ गया दिवाकर, दूसरी पर गोविंद। मैं उसके पैताने बैठ गया, रमेश उसके सिर की ओर मुँह करके चारपाई के मध्य में। वह उस पर पंखा झलने लगा।

अभी हम लोगों को विपिन के पास आए एक घंटा भी नहीं हुआ है, तो भी अदृष्ट, अकल्पित घटनाओं ने मिलकर दिवाकर और उसकी मंडली के उस घोर गर्जन-तर्जन का मुँह कैसा बंद कर दिया है! इस समय किसी को विपिन से कोई शिकायत न रह गई है। चमड़े की बद्धी में लटकता, अपने खोल के अंदर ही पड़ा हुआ दिवाकर का रिवाल्वर भी इस समय व्यर्थ हो गया है। विपिन आँखें फाड़-फाड़कर सब लोगों को देख रहा है।

पास ही दिवाकर की कुरसी थी। तो भी उसे विपिन के सिरहाने कुछ और अधिक खिसकाकर, उसके मस्तक पर हाथ रखकर, उसने पूछा—"यह सब क्या हो गया विपिन? हम लोगों को कोई सूचना भी न दी!"

विपिन ने बहुत धीमे स्वर से कहा—"उसकी जरूरत नहीं जान पड़ी।"

रमेश ने पूछा—"अग्नि-संस्कार भी नहीं किया क्या?"

विपिन ने अन्यमनस्क भाव से कह दिया—"गंगाजी में प्रवाह कर दिया था।"

कोई कुछ नहीं बोल सका। सबके मुख पर एक तरह की ठंडी मूकता छाकर रह गई।

दिवाकर ने इसी क्षण गोविंद से कहा—"इक्का कर लो। बँगले पर से काशी (नौकर) को ले आओ। उसके विना काम नहीं चलेगा। रमेश कहाँ तक पंखा झलेगा?"

विपिन ने हाथ उठाकर, मंद स्वर में कहा—'पंखा बंद कर दो भाई रमेश!"

गोविंद चला गया।

दिवाकर बोला—"डॉक्टर कह रहा था, कुछ खाना नहीं खाया है तुमने कई दिन से! यह तुमने क्या करना सोचा था?"

"इन सब बातों की कैफ़ियत फिर कभी ले लेना।" कहकर विपिन मौन हो गया। उसके मुख पर उस क्षण करुणा नहीं

थी, दैन्य भी न था। थी विषाद की कालिमा, अनुताप की ज्वाला, जीवन, संसार और उसके स्रष्टा के प्रति एक प्रकार का विद्रोह। जान पड़ता था, संकल्प अपूर्ण रह जाने के कारण जीवन की पराजय से वह खीझ उठा है। मृत्यु के निकट जा पहुँचने पर भी अनायास लौटाया जाकर वह जो जीवन के ही निकट लाकर खड़ा कर दिया गया है, यही उसकी हार है!

उस दिन—रात को भी—हम सब लोग विपिन के ही यहाँ रहे।

[४]

सब लोग बैठे आपस में वार्तालाप कर रहे थे। विपिन पास ही पड़ी चारपाई पर लेटा हुआ करवटें बदल रहा था। इधर कई घंटे से उसने अपने मन से कोई बात नहीं की थी। रात के ग्यारह बज गए थे। सड़क पर आवागमन का मिश्रित गंभीर स्वर प्रशांत पड़ गया था। कभी-कभी किसी कार का इंस्ट्रुमेंटल-म्यूज़िकल-हॉर्न मृदुल स्वरों के साथ सुनाई पड़ जाता; कभी किसी इक्केवाले का मस्ती से भरा गायन-पद। इसी समय विपिन उठकर बैठ गया।

रमेश बोला—"लेटे ही रहो विपिन। उठ क्यों बैठे?"

किंतु विपिन ने रमेश की इस बात को सुनकर भी, उस पर कुछ ध्यान न देकर, हम सब लोगों को संबोधन करते हुए, कहा—"आप सब बंधुओं का मैं बहुत ऋणी हूँ। शायद ही

आपका मेरे जैसे किसी व्यक्ति के प्रति, उसके नाना प्रकार के कपटाचरण सहन करते हुए, बदले में इतनी अधिक सहृदयता, ऐसी उदारता का भाव स्थिर रखने का अवसर मिला हो। किंतु अब आगे कभी आप लोगों को मेरे लिये इस तरह का कष्ट स्वीकार करने की आवश्यकता न पड़ेगी।"

इतनी बात कहकर विपिन चुप हो गया।

मैंने पहले से ही अपने इन साथियों से कह रक्खा था कि उससे किसी तरह का प्रश्न न किया जाय। दारुण आघात से वह आप ही मर रहा है। ऐसी दशा में विविध प्रकार के प्रश्न करके उसकी पीड़ा को और उकसाना उचित नहीं। किंतु विपिन की उपर्युक्त बात सुनकर रमेश बोल उठा—"उन सब बातों की चर्चा अब व्यर्थ है। पूर्ण स्वस्थ होकर तुम कि-सीन-किसी काम में लग जाओ, यही मेरी कामना है।"

भाव-विगलित विपिन ने उसी क्षण उत्तर दिया—"बेकार है। जीवन अगर पानी का बुलबुला ही है, क्षण-भंगुरता ही यदि उसका विस्तार है, तो ऐसा जीवन मुझे न चाहिए।"

कौन इस विपिन की बात का जवाब दे? लोग मूर्तिवत् स्थिर होकर, टकटकी लगाए हुए, उसे देख रहे हैं। मैं कभी उसे देखता हूँ, कभी अपने अन्य साथियों को। मेरे जी में आता है, कुछ कहूँ। लेकिन मेरी इच्छा यही है कि कहने की अपेक्षा मैं इस विपिन को देखता ही चलूँ। देखूँ, कहने के नाम पर वह क्या है, और न कहने के नाम पर क्या। देखूँ,

जो उसके भीतर है, उसे वह कह पाता है या नहीं; और, जो वह कह पाता है, वह निरा भीतर-ही-भीतर का है या बाहर का भी उसमें कुछ चुपचाप आकर मिल गया है। और, उस अयाचित मिश्रण से विपिन अंततोगत्वा अपरिचित ही बना रहता है, तब कैसा है, और परिचित होकर जो बना है वह उस अपरिचित से भिन्न कितना है।

चाँदनी रात है। शीतल पवन है, और मंद-मंद डोलता भी है। विपिन की आँखें सूखी ही हैं अभी, गीली नहीं हो सकीं। मैं ही नहीं, जान पड़ता है, मेरे साथियों को भी इस बात पर विस्मय हो आया है। किंतु मैं कैसे कहूँ कि विस्मय ही है मुझमें। बल्कि मैं कहना तो यह चाहता हूँ कि विपिन मेरे लिये विस्मय की नहीं, अध्ययन की चीज़ है। मुँह में आया कि पूछूँ —क्यों भाई विपिन, विषाद अकेला तुम्हारे ही नाम तो नहीं पड़ा है। आँखें खोलकर देखने से शायद किसी से पूछने की भी आवश्यकता न पड़ेगी कि तुम्हें क्या दुःख है। तब जीवन के प्रति तुम्हारी इस विरक्ति का अर्थ क्या है? मानवता की हिंसा है यह, या पराभूत मन का शृगाल-क्रंदन।

किंतु इसी क्षण विपिन बोल उठा—"कुछ लोगों का ख़याल हो गया था कि मेना वेश्या की लड़की थी, किंतु ऐसी बात न थी। हाँ, वेश्या के यहाँ मैंने उसे पाया ज़रूर था।

"उसके जीवन में एक रहस्य था। बहुत दिनों तक वह उसे गुप्त रख सकी थी। किंतु हम लोगों की भाव-धाराओं का

मिलन अबाध मानवता में लिप्त होकर जब एकाकार हो गया, तब, कुछ दिनों बाद, उसने बतलाया था कि मैं परित्यक्ता नारी हूँ। मेरे पति अभी जीवित हैं। वह यहीं, इसी नगर में रहते हैं।"

रमेश इसी समय उठ खड़ा हुआ। बोला—"अभी दूकानें खुली होंगी। मैं पान खाकर अभी आता हूँ।"

दिवाकर ने कहा—"काशी को भेज दो।"

लेकिन रमेश नहीं माना। बोला—"तबियत नहीं भरेगी।"

तब वह चला गया।

विपिन बोला—"मेना विधवा मा की बेटी थी। पिता का स्वर्गवास होने के आठ मास पश्चात उसका जन्म हुआ था। गाँव में कुछ दिनों तक इस प्रश्न को लेकर काफ़ी हलचल रही थी। परिवार-विरोधी पुराने पापियों को कीचड़ उछालने का अवसर मिल गया था। किंतु फिर धीरे-धीरे बात पुरानी पड़ती गई थी, और बहुत कम लोगों को उसका पता रह गया था। फिर मेना के भोले बचपन में उसकी मा का भी स्वर्ग-वास हो गया था। विवाह हो जाने के पश्चात् मेना ससुराल भी गई थी; किंतु बात खुलने पर, कुछ ही दिनों बाद, घर से निकाल दी गई। रोती-बिलखती जब भाई के घर आई, तब सारी कथा सुनकर बड़े भाई न भी उसे आश्रय नहीं दिया। मेना गाँव से थोड़ी दूर नदी में डूबने गई; किंतु वहाँ अचानक मिल गई एक वेश्या। वह उसे फुसलाकर अपने साथ ले आई।

"उस समय मेना की अवस्था केवल बारह वर्ष की थी। बेचारी संसार के ज्ञान से सर्वथा अपरिचित थी। धीरे-धीरे शिक्षा, स्वास्थ्य और सौंदर्य के नवल उत्थान में वह जब अनंग-लतिका-सी खिल उठी, ठीक उसी समय उससे मेरा परिचय हुआ।"

इसी समय ज़ीने से रमेश के उतरने की आवाज़ सुनाई दी। जान पड़ा, वह एक ओर खड़ा-खड़ा कुछ सुन या सोच रहा था।

"दिन-पर-दिन उससे मेरी आत्मीयता बढ़ती गई। यहाँ तक कि उससे मिले विना एक दिन भी रह नहीं सकता था। इसी समय पिता ने मेरा विवाह करना चाहा, किंतु ऐसा हो कैसे सकता था? मेना मेरी आत्मा थी। मेरी जीवन-सरिता। अन्यत्र विवाह करने से मैंने इनकार कर दिया। इस पर मेरे पीछे जासूस छोड़े गए। और, फलतः मुझे घर से पृथक् होना पड़ा।

"उस समय मेरे समक्ष अंधकार छा गया। अब मुझमें इतनी क्षमता न रह गई थी कि मैं बनारस में रह सकता। जिस नगर में मैं एक राजकुमार का-सा जीवन व्यतीत कर चुका था, उसमें दैन्य-दुर्दशा का आश्रय ग्रहण कर एकाकी मैं स्वतः चाहे किसी भाँति दिन काट भी लेता, किंतु मेना तब मेरी होकर कैसे रह सकती थी! हम दोनो ने चुपचाप एक दिन परामर्श किया। सब तय हो गया। मेना अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने के लिये तैयार हो गई। तभी मैं उसे, पत्नी-रूप में, यहाँ ले आया।

"हम लोगों को यहाँ रहते आप लोगों ने देखा है। मैंने मेना को सुखी रखने के लिये क्या नहीं किया! सच पूछिए, तो मैं इस योग्य तो रह न गया था कि सपत्नीक रह सकता। जीविका को जितना सुलभ मैं समझ बैठा था, उतनी सुलभ वह आजकल रह कहाँ गई है। किंतु अब हो ही क्या सकता था। जिस नारी ने अपने गदराए जीवन की सारी मधुरता, अपना संपूर्ण शरीर और मन क्षण-क्षण के अखिल संकल्प-विकल्प, प्राणों के अर्घ्य के साथ एक ही बार में समर्पित कर डाले हों, उस पावन पुष्करिणी से विरत मैं हो ही कैसे सकता था!

"भाई दिवाकर, हमारे समाज की अंधी दुनिया आज पूर्वा पर आधारित रहकर विनाश की ओर जा रही है। जीवन के विकास-क्रम में आत्मीय उत्कर्ष का उसके आगे कोई मूल्य नहीं रह गया। और, इसी मानसिक दासत्व का मैं विद्रोही हूँ। मैं छूटे हुए कल को न देखकर समक्ष के आज को देखता हूँ। मैं पूछता हूँ, प्रारंभ का डाकू और लुटेरा व्यक्ति आगे चल-कर छत्रधारी राजा बनने का अधिकारी हो सकता है, सड़क पर सफ़ाई करने, होटलों में जूठन उठाने, बर्तन मलने और मल-मूत्र साफ़ करनेवाले क्षुद्र लड़के संसार के सभ्य देशों के राष्ट्रपति हो सकते हैं, रूसो और टाल्स्टाय तरुण जीवन के प्रारंभिक युग में विलास के राग-रंग में निरंतर लीन रहकर, लालसा-मत्त पशुता की असीम केलि-क्रीड़ाओं में डूबकर भी महात्मा बन सकते हैं; किंतु एक नर्तकी, एक अनाश्रिता सुंदरी, एक

वार-नारी सती-साध्वी, पतिप्राणा रमणी नहीं बन सकती। अपने समाज के इस संकुचित दृष्टिकोण से मैं घृणा करता हूँ।"

इसी समय अपने समीप के शून्य में सिगरेट् का धुआँ फेंकता हुआ रमेश आ पहुँचा। उसके पान खाए हुए मुख से वारुणी की लपटें उठ रही थीं। उसकी चाल में मस्ती भरी हुई लहरें खेल रही थीं।

विपिन बोल उठा—"उसके अनन्य प्रणय पर उत्सर्ग करने के लिये मेरे पास था ही क्या? अर्थ से सर्वथा हीन था मैं। थोड़ी-बहुत जो शिक्षा थी, उसका भी उचित मूल्य मुझे नहीं मिला। तभी तो मुझसे थोड़े ही दिन सर्विस का निर्वाह किया जा सका। हाँ, सिर्फ़ एक चीज़ थी मेरे पास—निष्कपट अभिन्न-हृदयता। जीवन के जागरण-काल से अब तक इसी का थोड़ा-सा संचय कर पाया था मैं। निरलस आत्मा के निभृत कुंज में केवल यही एक निधि थी, सचाई का अभिमान। क्रम-क्रम से इसी की थोड़ी-सी वृद्धि कर पाया था मैं। मेना के लिये मैंने अंत में इसी का विक्रय कर डाला। संपत्ति का त्याग तो बहुत लोग कर चुके हैं, आज भी करते रहते हैं, किंतु सत्य-ग्रहण का जो अभिमान मानवात्मा का आलोक है, जीवन के अणु-अणु को जला-जलाकर मैं बराबर उसी की आहुति देने लगा। आह! कितना संतोष, कितनी तृप्ति मैंने उससे प्राप्त की! कुटिल नीति के जिस प्रयोग से हमारे

अभिन्न-हृदय प्रायः आवेश में आकर मुझे अपमानित कर बैठने को तत्पर हो जाते थे, उसी को सफल होते देखकर, यह सोचकर मैं संतोष के अमंद झकोरों से उन्मत्त हो उठता था कि मेरी निधि का यह एक कोना मेना की जीवन-धारा को आगे बढ़ाने में कुछ सहायक तो हुआ। किंतु यात्रा कितनी लंबी है, इसका ज्ञान मुझे उस समय न था। यह बोध तो तब हुआ, जब मेरा यह कोष भी रिक्त हो गया—जब मैं अपने मित्रों की सहानुभूति भी खो बैठा!"

दिवाकर अब आगे सुनने के लिये तैयार न था। धीरे-धीरे कथा ज्यों-ज्यों तट की ओर जा रही थी, विपिन की करुणा-विगलित वाणी का वेग उसी प्रकार उत्थित होता जा रहा था। उसकी आँखों से अब ज्वाला की चिनगारियाँ-सी निकल रही थीं। उधर दिवाकर का हृत्पिंड डोल रहा था। आँखें भर आई थीं, और कंठ रुद्ध हो चला था। उसने कहा—"बस करो विपिन, मनुष्यता के नाम पर मुझे क्षमा कर दो भाई!"

गोविंद की आँखों से अश्रु बराबर टपक रहे थे।

रमेश अचेत-सा होकर पड़ा हुआ था।

रहा मैं। सो मैं नहीं चाहता था कि विपिन एक क्षण को भी रुके। इसीलिये दिवाकर की स्थिति का मोह त्यागकर मैंने कहा—"हाँ, विपिन, इसके बाद?"

"इसके बाद सब समाप्त हो गया।" विपिन बोला—"वह खुद

तो भूखी रह सकती थी, किंतु मुझे भूखा रखना उसे स्वीकार न था। कई दिन तक मैंने उससे छल किया! भूखा रहने पर भी मैं यही कहता रहा—मैं अमुक के यहाँ से खाना खा आया हूँ। किंतु, जान पड़ता है, उस दिन मेरा यह मिथ्या कथन उसके आगे खुल गया था। बस, तभी उसने अफ़ीम खाकर आत्मघात कर लिया!"

दिवाकर ने रोते-रोते भावातुर होकर कहा—"तुमने हम लोगों के साथ विश्वासघात किया, अपनी इस स्थिति का यथार्थ परिचय तक कभी नहीं दिया।"

गोविंद ने आँसू पोछते हुए कहा—"तुमने अपने साथ अन्याय करके, अपने को ही धोखा देकर, एक देवी की जान ले ली! इसका तुम्हें क्या अधिकार था?"

रमेश उठकर, आँखें फाड़कर, अतिशय उत्तेजित होकर चिल्ला उठा—"तुमने मेरी स्त्री की हत्या की है—मेरी स्त्री की! मैं तुम्हें कभी क्षमा नहीं कर सकता।"

उस क्षण का सुख !

[१]

शयन-कक्ष में करवटें बदलता हुआ सुरेंद्र अपने जीवन के निर्माण को जो देखता है, देखता है कि उसने यह जीवन पाया किस तरह है—वह ऐसा बन कैसे सका है, तो एक ही बात अनंत ध्वनियों और प्रकारों से उसकी आत्मा के भीतर बोल उठती है—वह शकुंतला है। वही शकुंतला, जो संसार की दृष्टि में एक वेश्या रही है—हास-विलास-विलसित वार-नारी।

वह अपने नगर का एक साधारण जन-सेवक था। संयोग से उसमें एक महत्त्वाकांक्षा जग उठी थी। बाज़ार बंद थे। सड़कों पर घुड़सवार चक्कर लगा रहे थे। रात को सात बजे से घर से निकलना मना था। कोई सभा नहीं हो सकती थी; कोई जलूस नहीं निकल सकता था। तो भी उसने 'स्वतंत्रता-दिवस' धूम के साथ मनाया था। बड़े समारोह के साथ उसने झंडा-अभिवादन किया और सिविल लाइन से जलूस भी निकाला।

उस समय अपने इस आयोजन के परिणाम को वह सोच ही कहाँ सका था। कितने ही लोग गिरफ़्तार हो गए। कुछ लोगों के नाम गिरफ़्तारी के वारंट जारी थे। पुलिस बड़ी

सरगर्मी से जलूस निकालनेवालों की तलाश कर रही थी। अपने सहकर्मियों को गिरफ़्तार देख सुरेंद्र के जी में आया कि वह ख़ुद क्यों बच गया? वह भी क्यों नहीं उनके साथ गिरफ़्तार हो गया? कितना अच्छा होता, यदि आज वह भी अपने इन वीर बंधुओं की जेल-यात्रा में उनका साथी बन सकता!

उसने देखा था—यह रामशंकर की विधवा मा है, जिसके आगे-पीछे अब कोई नहीं रह गया। दुर्बल शरीर, मारकीन की सादी धोती, हाथों में चाँदी की दो-दो चूड़ियाँ और नाक में सोने की बूँद। पुत्र की गिरफ़्तारी सुनकर रोती है, किंतु दुःख की गहनता के कारण आँखों से आँसू नहीं निकल रहे हैं।

देखा था—यह गोपाल के वृद्ध पिता हैं। आँखें गड्ढों में धँस गई हैं, मुँह पचक गया है। ठुड्डी और होठों के बीच खाई-सी बन गई है। दाँत नहीं रह गए। इक्के से उतरते-उतरते गिर पड़े, तो घुटने फूट गए। बच्चे की गिरफ़्तारी सुनकर अचेत हो गए हैं! मरेंगे नहीं वह। मृत्यु को उनकी ओर देखने में अभी कुछ समय लगेगा। कुछ दिन आँसू पीकर, भूखों रहकर, रोते-झींखते इस सुनहले संसार का बचा-खुचा सुख भोग लें, तब तो मरें। ऐसे, इतनी जल्दी, मरना आसान थोड़े ही है! ज़िंदगी ठहरी, मज़ाक़ नहीं है। वह उठेंगे; कुछ दिन और जीवित रहकर इस संसार के अभावों की पूर्ति में उन्हें (अपेक्षित) योग जो देना है।

[२]

उस समय किसी से कुछ कह सकने की स्थिति में वह नहीं था। वह सोचता था—माना कि देश की स्वाधीनता के लिये इतने लोग जो गिरफ़्तार हुए हैं, और इतना जो आत्मोत्सर्ग हुआ है, वह एक सिद्धांत के लिये है, उसका अपना मूल्य है, वज़न है। तो भी कोई उससे पूछने-सा लगता—अब इन निराश्रित लोगों के अवशिष्ट जीवन की ज़िम्मेदारी किस पर है? किसने इन्हें इस दशा को पहुँचाया है? तभी उसके जी में आता था—वह ख़ुद ही क्यों नहीं सबसे पहले गिरफ़्तार हुआ?

विवाह होने के कुछ ही दिनों बाद, जब से उसकी नवपत्नी का स्वर्गवास हो गया था, तब से वह सर्वथा एकाकी बन गया था। माता और छोटे भाइयों से उसका केवल इतना नाता रह गया था कि वक़्त पर उसे भोजन और वस्त्र मिल जाय। वह नित्य गंगा-स्नान करता, पार्क में चुपचाप बैठा रहता, और शाम के वक़्त कांग्रेस-ऑफ़िस चला जाता। सेवा का क्षेत्र पग-पग पर कैसा कंटकमय है, उसने कभी सोचा न था। आज उसके पास अगर कोई जायदाद होती, तो वह इतना दुखी न होता। किसी से भी पूछे विना वह इस समय उसे बेच डालता। किसी प्रकार इन निराश्रितों के आँसू तो वह पोंछ सकता! नगर में उसका इतना प्रभाव न था कि लोग पहुँचते ही, उसकी माँग के अनुसार, उसे इकट्ठा रुपया दे सकते।

वह रो नहीं सकता था, उसके प्राण उस समय इतने

विकल हो रहे थे। एक-एक क्षण उसका मुश्किल से कट रहा था। उसको आए हुए अभी दस मिनट भी न हुए होंगे कि उसे ख़याल आ गया कि उसको तुरंत गिरफ़्तार हो जाना पड़ेगा। उसे इतना समय कहाँ है कि वह यहाँ खड़ा भी हो सके।

शाम हो गई थी, और सात बजने में अब थोड़ी ही देर थी। तब वह चुपचाप शकुंतला के यहाँ चला गया था—गलियों से छिप-छिपकर, चक्कर काटता हुआ।

बिलकुल पास बैठी हुई वह उसके लिये पान लगा रही थी। वहीं, छज्जे पर से झाँकते हुए, उसने देखा था—बहुत-से लोग गिरफ़्तार होकर पुलिस की लारी में जा रहे हैं। तभी मोतियों के बुंदेदार इयरिंग हिलाती हुई, कटाक्ष से शकुंतला ने पूछा था—आज भूल कैसे पड़े राजन् ?"

"तुम्हारी परीक्षा लेने आया हूँ, शकुन।' उसने अत्यंत गंभीर होकर कहा था—"देखता हूँ, तुम मुझे वास्तव में कुछ चाहती भी हो, या सारा जमा-ख़र्च महज़ ज़बानी ही है !"

एक दिन गंगा-स्नान करती हुई यह शकुंतला डूबने लगी थी। तब तक उसने उसे देखा तक न था, परिचय की कौन कहे। उसी समय आगे बढ़कर वह उसे निकाल लाया था। पीछे पता चला कि अरे, यह तो वेश्या है !

मुस्किराती हुई वह बोली—"बात क्या है, कुछ कहोगे भी, या यों ही परीक्षा ले लोगे ? बोलो न, आख़िर चाहते क्या हो ?"

उसने कहा था—"किसी तरह के पशोपेश विना जो भी दे सको।"

तब वाणी की कोमलता में ही उसने जैसे अपनी समस्त माधुरी घोलकर उत्तर दिया था—"तो चलो, मैं तैयार हूँ। कितने दिन से कह रही हूँ, कुछ ठीक है? ऐसा ही था, तो उस दिन भरी गंगा में, केश पकड़कर, किनारे तक मुझे घसीट ही क्यों लाए थे? बह ही क्यों नहीं जाने दिया था! और भी तो सैकड़ों आदमी घाट पर थे। कोई भी तो तुम्हारी तरह जीवन का मोह त्यागकर नहीं कूद पड़ा था। तब तुम्हीं क्यों मुझे बचाने आए थे?...बोलो, जवाब दो?"

"तुम जानती हो शकुन", वह बोल उठा था—"मैंने दूसरा विवाह नहीं किया। और अधिक मैं क्या कर सकता था? फिर भी तुम इस तरह की बातें छेड़ देती हो; यह भी नहीं सोचतीं कि इन बातों को सुनकर मुझे कितना क्लेश पहुँचता है। फिर इस समय मैं एक दूसरे अभिप्राय से आया हूँ। तुम्हें पता होना चाहिए कि आज हमारा स्वाधीनता-दिवस है। सिविल-लाइन में हमारे जलूस को पुलिस ने आगे बढ़ने नहीं दिया, बीच में ही तितर-बितर कर दिया। सैकड़ों आदमी गिरफ़्तार कर लिए गए हैं, और कितने ही गिरफ़्तार होनेवाले हैं। मैं किसी तरह छिपकर आ पाया हूँ। जलूस के लोग ढूँढ़-ढूँढ़कर गिरफ़्तार किए जा रहे हैं। मुझे अपने गिरफ़्तार होने से पहले गिरफ़्तार व्यक्तियों के निराश्रित संबंधियों के खाने-पीने

का—कुछ दिनों का—प्रबंध तो कर ही जाना है। इस समय यही प्रश्न मेरे जीवन-मरण को हल कर सकता है। इस समय मुझे तुम्हारी नहीं, तुम्हारे त्याग की जरूरत है; जिसके लिये तुमने अपने शरीर, सौंदर्य और आत्मा तक का विक्रय किया है, तुम्हारी उसी प्राणों के समान प्यारी वस्तु लक्ष्मी की जरूरत है।"

उसकी इस बात पर, जान पड़ा, शकुंतला को चोट पहुँची है। जान पड़ा, वह नहीं स्वीकार करना चाहती कि उस दिन के बाद फिर कभी उसने शरीर और सौंदर्य का विक्रय किया हो। हाँ, प्रदर्शन की बात दूसरी है। और, आत्मा का विक्रय तो उसने कभी किया ही नहीं। हाँ, उसका समर्पण उसने थोड़े दिनों से जरूर कर रक्खा है। किंतु उसके वरदान में अभी तक उसे मिला कुछ नहीं। इन दशाओं में तुम यह कहते क्या हो? किंतु यह सब कुछ भी न कहकर, क्षण-भर बाद, उसने हँसते हुए पूछा था—"तो इसके बदले में आज तुम मुझे क्या देने आए हो?"

भीतर से अत्यधिक व्यथित होते हुए भी, शकुन की इस बात को सुनकर, उसके मुख पर मुस्किराहट फूट पड़ी थी। तभी उत्तर में उसने कह दिया था—"केवल दर्शन।"

फलतः सबेरे चार बजे से ही पीड़ित कुटुंबियों से मिल-मिलकर, उन्हें सांत्वना देकर, उसने लगभग दो सहस्र रुपए बाँट दिए थे। सूर्योदय होते-होते तो वह डिस्ट्रिक्ट-जेल जा

पहुँचा था। उसे गर्व था कि उसने अपने कर्तव्य का निर्वाह यथाविधि किया है। वह फूला नहीं समाया था। स्वतंत्रता-दिवस के लिये इतने उत्सर्ग की बात उसने प्रांत-भर में कहीं न सुनी थी।

[३]

दिन बीते। वह कारागृह से मुक्त होकर लौटा। उसका ऐसा स्वागत हुआ, जैसा तब तक किसी भी स्थानीय नेता का न हुआ था।

दिन बदले। सन् १९३६ आ पहुँचा। देश में नया जीवन आया, नवल उमंगों की हिलोरें एक छोर से दूसरे छोर तक लहराने लगीं। अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा ने तय किया कि हम कौंसिलों में जायँ, पद ग्रहण करें, और उन्हें भंग कर इस नवीन शासन-सुधार को व्यर्थ कर डालें।

उन्हीं दिनों की बात है। वह उस दिन घूमकर लौट रहा था। रात के कोई नौ बजे होंगे। एकाएक सड़क के फ़ुटपाथ पर चलते हुए उसे अपने बराबर पर दाहनी ओर मोटर कार का हॉर्न सुनाई पड़ा। तदनंतर उसे प्रतीत हुआ, वह कार उसके क़दमों के किनारे ही आकर खड़ी हो गई है।

"अरे!" परिहास-गर्भित वाणी में यह किस ने कह दिया— "सुनते हो, गूलर के फूल?"

वह अचकचाकर खड़ा हो गया। देखा, ओह, यह तो शकुन है! बोला—"क्या बतलाऊँ, फ़ुरसत ही नहीं मिलती!"

"यह सब मैं जानती हूँ। बातें बनाना कोई तुमसे सीख ले।...अच्छा, इस वक्त कहाँ जा रहे हो ?" कार से उतरकर उसने उसके निकट आकर पूछा।

तब "इस समय तो......कांग्रेस-ऑफ़िस जाना है।" उसने कहा था।

"तो बैठ लो! मैं पहुँचा देती हूँ।"

"तुम......"

"क्यों ? इतना भी हक़ नहीं रखती हूँ ?" कहते-कहते उसकी भृकुटियाँ तन गईं। मुख पर रक्ताभा छा गई। आँखें उत्तर के लिये जैसे बाहर निकल आना चाहती थीं।

"मैं माफ़ी चाहता हूँ इसके लिये।" के उत्तर में कार को स्टार्ट करते हुए उसने कहा था—"अच्छी बात है !"

वह उसके साथ जा तो नहीं सका ; किंतु उसकी "अच्छी बात" उसके कलेजे में तीर-सी चुभ गई। तब वह कांग्रेस-ऑफ़िस जाकर, तत्परता से वहाँ का काम समाप्त कर, चुपचाप अपने घर आया।

ओह ! उस दिन कितना झगड़ा हुआ था उससे !

उसने कहा था—"मैं शरीर, सौंदर्य और माना कि आत्मा तक बेचती रही हूँ ; किंतु तुम अपनी कौन-सी चीज़ नहीं बेचते ? अपने आंतरिक विश्वासों को, अंतरात्मा की पुकार को, अपनी पद-मर्यादा, अपने सामाजिक शिष्टाचरण और उसके मिथ्याडंबर के आगे जा सदा मसलते रहते हो, वह

क्या है ? अपने दल का साथ देने और उसकी प्रतिष्ठा सुरक्षित रखने में विपक्षी की उचित बातों तक का जो सदा विरोध ही करते रहते हो, वह क्या है ? समाज में क़साई को जगह है— हिंसा ही जिसकी वृत्ति है। निरंतर तर्कों के घटाटोप और वाक्-पटुता के पाप की कमाई खानेवाले वकील समाज के भूषण बने रह सकते हैं। जीवन में दर्जनों ललनाओं से छिप-छिपकर संबंध रखनेवाले लंपट समाज के अगुआ बने रह सकते हैं। किंतु उसी समाज के लिये अपना सर्वस्व तक उत्सर्ग करनेवाली वार-नारी सदा घृणा की अधिकारिणी है; सड़क पर उससे बातें नहीं की जा सकतीं, कार पर उसके साथ दस-पाँच मिनट के लिये घूमा नहीं जा सकता !—केवल इस डर से कि कोई देखेगा, तो क्या कहेगा ! ऐसी कमज़ोरियों से मैं नफ़रत करती हूँ मिस्टर शर्मा ! आप नहीं जानते, मैं आपकी कितनी इज़्ज़त करती थी। लेकिन आज आपने मेरा दिल तोड़ दिया।"

फिर थोड़ी देर चुप रहकर वह एकदम से रो पड़ी थी। वह सिसकियाँ भर-भरकर रोई थी—बिलख-बिलखके ! उसके एक-एक आँसू को उसने अपनी अंतरात्मा पर उतार लिया था। रत्ती-रत्ती-भर जी की बातें उसने उसे बतलाई थीं। उसने कहा था—"तुम्हारे एक-एक शब्द से मैं सहमत हूँ। किंतु कुछ भी हो, समाज तो मर्यादाओं से ही बना है। वे न रहें, तो समाज क्या रह जायगा ? मुझे जो अपना बड़प्पन सुरक्षित

रखना पड़ता है—फिर चाहे भीतर से वह आडंबर ही क्यों न हो—वह केवल इसलिये कि समाज को एक आदर्श चाहिए। पूर्णता का एक नमूना, जिसको देख-देखकर, तोल-तोलकर वह अपना नियमन कर सके।—सदा ऐसी स्थिति में बना रह सके कि उसका व्यक्ति-स्वातंत्र्य सुरक्षित रहे; सार्वजनिक शांति भंग न होने पाए। जन-साधारण की दृष्टि में जब हम उच्च रहेंगे, तभी तो उनका आदर पा सकेंगे। उनकी दृष्टि में ही नहीं, हमें तो उनकी कल्पना तक से उच्च बनना पड़ता है। हमें यह दिखलाना पड़ता है कि त्याग करने, कष्ट सहने और वासनाओं से निर्लिप्त बने रहने का हममें कैसा अद्भुत सामर्थ्य है; क्योंकि हमको समाज के मन-प्राण पर अधिकार करने की आवश्यकता होती है। हमें एक सेना की ज़रूरत पड़ती है। ऐसी सेना, जो हमारे एक-एक शब्द की प्रतीक्षा में रहे—उसकी परवा करे। आदर्श ऐसी चीज़ नहीं, जिसकी सोलह आने पूर्ति समाज ने कभी कर पाई हो। बुराइयाँ हममें रही हैं, और रहेंगी। किंतु आदर्श को छोड़कर हम भाग नहीं सकते। चलेंगे हम किसको आगे देखकर? तभी हमें एक चीज़ आगे रखनी ही पड़ती है, और है वह आदर्श। वह शिव है, सत्य और सुंदर। उसके प्रति हमारा विद्रोह कैसा?"

अंत में उसने कहा था—"इस समय हम एक क्रांतिशील युग से आगे बढ़ रहे हैं। स्वदेश की स्वाधीनता की इस लड़ाई में हमारे क्षण-क्षण का महत्त्व है। और, ऐसे समय तुम ऐसी

क्षुद्र शिकायतें लेकर रोने बैठी हो ! तुम्हें यह शोभा देता है !! छिः-छिः!!!"

तब वह शांत हो गई थी। उसने एक अपराधी की भाँति अनुतप्त होकर, एक आत्मीय की भाँति निकट बैठकर, बड़ी देर तक अनेक प्रकार की बातें की थीं। 'इस समय कैसा काम चल रहा है, आगे के लिये कैसी आशा है'—उसने पूछा था। उसने यह भी पूछा था कि क्या कभी ऐसा भी समय आ सकता है कि खुले तौर से वह उसकी हो सके !

तब सारी वस्तुस्थिति समझाते हुए उसने कहा था—"चान्स तो मेरा भी है, शकुन। किंतु चुनाव लड़ने के लिये रुपया भी तो चाहिए। माना, मुख्य बल जनता का है, और वह उसे किसी हद तक प्राप्त भी है, तो भी कोरी बातों से चुनाव नहीं लड़ा जा सकता। बल-प्रदर्शन की भी आवश्यकता होती है। और, उसके लिये चाहिए रुपया। इसीलिये मैंने उम्मेदवार होने का विचार त्याग दिया है।"

उस रात उसने खाना नहीं खाया। बातें करते-करते दो बज गए। उसकी अंतिम बात के उत्तर में उसने कहा था—"वह दिन दूर नहीं शकुन, जब तुम न केवल मेरी दृष्टि में, वरन् संसार की दृष्टि में भी, मेरी हो सकोगी।"

वह चलने को हुआ, तो वह बोली—"कल भी चले आना। चाहे थोड़ी ही देर ठहरना। अच्छा। एक मसले पर तुम्हारी सलाह लेनी है।"

ओह, उसने अनुभव किया था उस क्षण, शायद पहली बार, कि शकुन का नारीत्व खोया नहीं। उसके एक-एक शब्द में कितना प्यार भरा है ! उसे प्रतीत हुआ—शकुंतला उसकी है, उसकी आत्मा है। आत्मा की ज्योति है, ज्योति की किरणमाला। उसके प्राणों में एक हुंकार उठा—वह उससे केवल प्राप्त ही करता रहा है, प्रतिदान के नाम पर उसने उसे कुछ नहीं दिया—कुछ नहीं ! तब दूसरे दिन भी वह उसके पास गया था। गया था यह सोचकर कि वह सदा के लिये उससे क्षमा माँग लेगा। उसका जीवन उसके वश का रह जो नहीं गया है। वह तो उसे स्वदेश को समर्पित कर चुका है। तभी वह जो चाहता भी है, उसे कर नहीं सकता। अपने व्रत का, प्रतिज्ञा का वह बंदी जो है। तब इस इतने से मोह को भी उसे त्यागना पड़ेगा। वह शकुंतला को भूल जायगा, और चाहेगा कि वह भी उसे भूल जाय। बस, अब वह छुटकारा चाहता है, बिदा चाहता है !

रास्ते-भर यही सब सोच-सोचकर वह अत्यधिक भावोन्मेष में आ गया था; तो भी वह भीतर से दृढ़ था। उसने निश्चय कर लिया था कि इस विष को भी वह पिएगा—अवश्य पिएगा। अभी तक उसने एक-एक घूँट करके पिया है, पर अब वह कुल-का-कुल एक साथ पिएगा।

किंतु शकुंतला के समक्ष पहुँचकर वह कुछ कह न सका। प्रतिकूल उसने अनुभव किया कि नारी विश्व की आत्मा है।

उसके आत्मदान को जो स्वीकार नहीं करता, तृषाकुल प्राणों के पावन मिलन में भी जो सीमाओं से ही बँधा रहता है, वह जीवन को समझ नहीं सकता—पा नहीं सकता। भले ही वह अपने मन से देवता बना रहे !

उफ़् ! उस दिन वह कितनी प्रसन्न थी ! हर्षातिरेक से उसके नयन चमक रहे थे। दस हज़ार रुपए का चेक उसने उसकी जेब में डालते हुए कहा था—"मेरे रहते तबियत ओछी करने की ज़रूरत नहीं। पैसा क्या चीज़ है ?—मेरा यह जीवन भी तो तुम्हारा ही है। ज़रूरत पड़े, तो माँग लेना, संकोच न करना।"

[४]

दिन बीते।

आज सुरेंद्र अपने प्रांत का एक ऑनरेबुल मिनिस्टर है। बँगला, कार, फ़ान, अनुचर और प्रतिष्ठा—उसे सभी कुछ प्राप्त है। जहाँ कहीं वह जाता है, पहले-से-पहले उसका कार्य-क्रम संवाद-पत्रों के कालमों की शोभा बढ़ाता है। दिन-भर में स्थान-स्थान पर कई-कई बार उसका अभिनंदन होता है। रात-दिन की व्यस्तता ने उसे एक ही वर्ष में दुर्बल कर डाला है। उसका एक-एक पल देश का है। देश ही उसके जीवन का स्वप्न है। कहीं से भी वह प्राइवेट नहीं रह गया। जो कुछ भी वह करेगा, यह असंभव है कि जन-समुदाय की दृष्टि उस पर न जाय ! उतना स्वतंत्र वह अब कहाँ रह गया है ! दिन-

रात उसे काम-ही-काम तो है। उसे छुट्टी कहाँ है ? यदि उसका सिर दर्द करता है, बदन टूटता है, रात को नींद नहीं आई है, तो भी काम से उसे छुट्टी कहाँ मिल सकी !

आजकल एसेंबली में एक नया बिल पेश होने जा रहा है। उसके अनुसार वेश्या-वृत्ति अपने प्रांत में अवैध हो जायगी। वेश्याओं को यह आदेश दिया जायगा कि वे चाहे जहाँ रहें, चाहे जिस पेशे में लगें, किंतु व्यभिचार को अब वे जीवन-निर्वाह का साधन न बना सकेंगी।

सुरेंद्र इस विश्वास का व्यक्ति है कि हमारे समाज का संगठन जिस दृष्टि से हुआ है, उसमें वेश्या समाज का एक अंग है। ऋषियों और योगियों की बात दूसरी है, पर साधारण रूप से मनुष्य-जीवन काम-वासना से सर्वथा मुक्त नहीं किया जा सकता। जो लोग आर्थिक हीनता-वश वैवाहिक जीवन-लाभ करने की सुविधा नहीं प्राप्त कर पाते, समाज की शांति-रक्षा की दृष्टि से, उनके लिये, वेश्या एक अवलंब है। इस तरह समाज अपने आदर्श पर स्थिर बना रहता है। पश्चिमीय देशों में जहाँ-कहीं वेश्या अवैध बना डाली गई है, वहाँ का आचार, आदर्श हमारे यहाँ से इतना भिन्न है कि वहाँ वेश्या की आवश्यकता नहीं रह गई है। सार्वजनिक स्थलों पर, खुले आम युवक-युवतियों का पारस्परिक चुंबन-परिरंभण वहाँ की संस्कृति है। कौमार्य वहाँ या तो कोष की वस्तु है या कल्पना की। फिर वेश्या के स्थान की पूर्ति वहाँ की

शॉप-गर्ल्स बहुत कुछ कर देती हैं। किंतु अपने देश की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। यहाँ की सभ्यता का आधार आध्यात्मिक है। भोग यहाँ जीवन का अंग न होकर मरण का अंग माना जाता है। कुमार और कुमारियाँ, पति और पत्नी की यहाँ अपनी-अपनी, पृथक्-पृथक् मर्यादाएँ हैं। पिता-पुत्री और भाई-बहन भी यदि तरुण हैं, तो उनका एकांत-वास यहाँ नीति-विरुद्ध है। किसी स्त्री का पर-पुरुष से और पुरुष का पर-स्त्री से अत्यधिक सौहार्द, आचार-निष्ठा की दृष्टि से, यहाँ अनुचित माना जाता है।

किंतु बिल के प्रस्तावक महोदय दूसरे विचार के व्यक्ति हैं। उनका कथन है कि वेश्या हमारी सभ्यता का कोढ़ है। इसे तो नष्ट ही हो जाना चाहिए। इसके कारणों के संबंध में उनका कहना है कि पिछले पचास वर्षों में क्षय, गर्मी, सूज़ाक, संग्रहणी तथा प्रमेह आदि बीमारियों से जितनी मृत्युएँ इस देश में हुईं, उनमें अस्सी प्रतिशत का मूल-कारण यहाँ के वेश्यालय हैं। हाव-भाव-कटाक्ष, वार्ता-विनोद-धृष्टता और फ़ैशन के अभाव को लेकर जो वासना-मूलक विद्रोह हमारे गार्हस्थ्य-जीवन की शांति-समृद्धि के समूल नाश का कारण बना है, उसका विस्फोट इन वेश्यालयों से ही हुआ है। शृंगार-वृद्धि-संबंधी नित्य नई वस्तुओं पर प्रतिवर्ष जो करोड़ों रुपया विदेश जाता है, उसका अधिकांश इन वेश्याओं पर ही व्यय होता है। अगर हमें देश की भावी

संतान को वीर, साहसी, स्वस्थ, बलशाली, समर्थ और सदाचारी बनाना है, तो वेश्या-वृत्ति को हमें नष्ट करना ही होगा।

विवाद चल रहा था। संयोग से उसकी दृष्टि दर्शकों की गैलरी की ओर जो गई, तो उसने देखा, वह खादी की साड़ी पहनकर आई है, बिलकुल साधारण वेश में। तब उसके कलेजे को कोई करोचने लगा था। यदि वह उसके जीवन में न आई होती, तो आज वह भी इसी गैलरी का एक दर्शक होता। पर पूरे-का-पूरा वर्ष बीत गया था, और वह उससे किसी तरह मिल न सका था !

"किंतु उस समय वह कितनी प्रसन्न देख पड़ती थी ?"

"तो क्या इस बिल से वह प्रसन्न हुई थी ?"

उफ़ ! उसकी इच्छा हुई थी कि वह भाग खड़ा हो—बंधन तोड़ डाले। ऑनरेबुल मिनिस्टर न रहकर एक साधारण व्यक्ति बन जाय ! शकुंतला उसकी है। वह उसे भूल नहीं सकता !

किंतु इसी क्षण आया उसके कल्पना-पट पर पीड़ा से तड़पता हुआ एक मजदूर, जो वेश्या-संसर्ग-जनित रोग से पीड़ित है, जिसके बदन से सड़ी दुर्गंध फूट-फूटकर उड़ रही है ! उसके बच्चे भीख माँगते हैं, और पत्नी अपना पातिव्रत-निर्वाह करती हुई नारकीय यातनाओं का सुख-संचय कर रही है !

तब उसने सोचा था—कुछ नहीं है यह। देश के उत्थान

के मार्ग में यदि मैं मेरे प्राण बाधक हैं, तो उनका भी उत्सर्ग आवश्यक है।

विवाद दूसरे दिन के लिये स्थगित हो गया, और उस दिन की बैठक में बिल सेलेक्ट-कमेटी के सुपुर्द कर दिया गया।

[५]

उसी दिन, साढ़े नौ बजे रात्रि। एक कार सुरेंद्र के बँगले पर आ खड़ी हुई।

"कहाँ मैडम ? उधर सेक्रेटरी साहब हैं। बहुत व्यस्त हैं। आज मिलना नहीं होगा।"

"सेक्रेटरी नहीं। मैं...मैं तो मिनिस्टर साहब से ही मिलना चाहती हूँ।"

"आप जरा यहाँ, इधर वेटिंग रूम में, तशरीफ़ रक्खें। मैं सेक्रेटरी से जाकर कहता हूँ। आपका कार्ड ?"

"ओ, कार्ड-वार्ड मैं नहीं रखती।...अच्छा, यह चिट लिए जाइए।"

उसने एक काग़ज़ पर अपना नाम लिख दिया।

थोड़ी देर बाद।

"सेक्रेटरी का कहना है कि यों भी वह महीनों से अस्वस्थ हैं, और इधर तो रात-दिन की व्यस्तता ने उन्हें और भी बीमार कर डाला है। वे इस समय सो रहे हैं। बड़ी मुश्किल से उन्हें नींद आती है। उनका ख़याल है कि अभी उनसे एक हफ़्ते तक मिलना नहीं हो सकेगा—जब तक यह सेशन नहीं

समाप्त हो जाता। फिर भी आपका कार्ड, उठने पर, उनके आगे रख दिया जायगा। अगर वह ज़रूरत समझेंगे, तो आपको तदनुसार उसका उत्तर दे देंगे।"

असिस्टैंट सेक्रेटरी से उपर्युक्त उत्तर पाकर शकुंतला थोड़ी देर तक तो कुछ सोचती रही। फिर चुपचाप चली आई।

एक सप्ताह बाद।

सुरेंद्र ने एक फ़ाइल अभी खोली ही थी कि ऊपर ही एक चिट उसके सामने आ गई। चिट देखकर फ़ाइल उसने एक ओर रख दी। प्राइवेट सेक्रेटरी आया, तो उसने पूछा—"यह चिट कैसी है ?"

"ओह, ऐम सॉरी। कई दिन की बात है, एक देवीजी आपसे मिलने आई थीं। आप बहुत व्यस्त थे, या शायद सो रहे थे।......यह उस दिन की बात है, जब Prostitution Prohibition Bill (वेश्यावृत्ति-निवारक-बिल) पेश था।"

उसने तत्काल ऑफ़िस छोड़ दिया। पोशाक बदलकर वह अकेला चल पड़ा एक ओर को। किसी को कुछ नहीं बतलाया उसने कि वह जा कहाँ रहा है। उस दिन के सारे प्रोग्राम्स 'अपसेट' हो गए। प्राइवेट सेक्रेटरी लोगों को उत्तर देते-देते परेशान हो गया।

[६]

कल वह सब कुछ देख आया अपनी आँखों से। देख आया कि शकुंतला ने इस वर्ष को कैसे व्यतीत किया! उसके

रहन-सहन और साधना-विदग्ध जीवन की कथाएँ भी वह सुन आया। उसका दान-पात्र भी वह ले आया। किस तरह वह गंगा में बह गई, यह भी विस्तार से सुन आया। ऑफ़िस में काम भी वह खूब सरगर्मी से करता रहा दिन-भर। किंतु उसे अपने चारो ओर जो एक महाशून्य को छोड़कर और कुछ नहीं देख पड़ता है, इसे वह क्या करे! उसका हृदय जैसे जल रहा हो!—प्राण जैसे झुलस रहे हों! अपना दुख वह किससे कहे और कैसे कहे? सारी रात करवटें बदलते बीत गई, और फिर भी उसे नींद न आई!

सबेरा हो गया है। फिर लोगों का आना-जाना बदस्तूर जारी हो गया है। डॉक्टर ने उसकी परीक्षा करके उसे कंप्लीट रेस्ट—पूर्ण विश्राम—लेने की सलाह दी है। आह, यह कितनी अच्छी बात है कि उसे पूर्ण विश्राम मिल जाय। यही तो वह चाहता है!—यही तो।

उसने आँखें मूँद ली हैं, और उसे सोता जानकर धीरे-धीरे सभी लोग उसके पास से उठ गए हैं।

इसी क्षण सुरेंद्र उठा। उठकर उसने काग़ज़ों में लिपटी हुई एक पुड़िया निकाली, और चाहा कि उसे तुरंत फाँक-कर वह पूर्ण विश्राम ले ले। किंतु उसी क्षण किसी अदृश्य शक्ति ने उसके हाथ में एक ऐसा धक्का मारा कि उस पुड़िया का सारा पाउडर फ़र्श पर फैल गया। तब आँखें फाड़-फाड़-कर उसने अपने चारो ओर देखा, पर कहीं कुछ हो, तब

तो देख पड़े। वह चिल्लाने को हुआ। पर उसके मुँह से एक शब्द तक नहीं निकल सका। हाँ, एकाएक वह पसीने से लथपथ जरूर हो गया। और, तब वह विवश होकर लेट गया। क्षण-भर में उसकी आँखें लग गईं।

❀ ❀ ❀

कुछ घंटों बाद।

कोई अपनी कमलनाल-सी उँगलियों से उसके सिर का केश-गुच्छ सुहला रहा था। उसकी सुकोमल जानु पर उसका सिर था। कितने प्यार से उसने कहा था—"अब फिर कभी ऐसी नादानी न करना, भला ! तुम्हें अपने ऊपर इस तरह का अन्याय करने का कोई अधिकार नहीं। तुम केवल स्वदेश के हो !"

उसकी आँखें खुल गई हैं। वह इधर देखता है, उधर देखता है; किंतु देखता है, कहीं कोई नहीं है। है केवल क्षण-भर का एक कल्पनातीत सुख, जिसे शकुंतला अपने आत्मोत्सर्ग से दे गई है। वही शकुंतला, जो...। जो ...।

टिकुली

[१]

टिकुली का हाथ जैसे चहक गया हो। एक प्रकार का अमांगलिक विस्मय, विद्युद्धारा की भाँति, उसकी देह-भर में फैल गया। नाड़ी का ज्ञान तो उसे था नहीं। तो भी यह निश्चय उसे हो ही गया कि ज्वर ऐसा मामूली नहीं है।

आज कई दिन से वंशी को ज्वर आ रहा है। जब तापक्रम कुछ कम हो जाता है, तब कभी-कभी आँखें खोलकर वह टिकुली से पानी माँगकर पी लेता है। अन्यथा चुपचाप पड़ा-पड़ा कराहता रहता है। अधिक पीड़ा का भान होने पर टिकुली वंशी के मुँह के निकट होकर पूछती है—"दर्द होता है?" फिर उसके मस्तक पर हाथ रखकर देखती है। सोचती है, शायद सिर में दर्द है। फिर पैर दाबने का उपक्रम करती है। सोचती है—पैरों में पीड़ा है। पर वंशी कुछ कहता कम है, अधिकतर संकेत से ही काम लेता है। दर्द होने पर भी वह उसे स्वीकार करके टिकुली को और दुख करना नहीं चाहता।

❀ ❀ ❀

टिकुली वंशी की स्त्री नहीं है; बहन या भाभी भी नहीं।

क्या है, यह खुलकर एक शब्द में, शायद कहा नहीं जा सकता। गाँव के लोग उसके संबंध में सिर्फ़ इतना ही जानते हैं कि वह वंशी की ससुराल के पास-पड़ोस की लड़की थी और बाल-विधवा थी। और, उसी नाते से, वह शुरू से ही, उसे जाजा कहती आई है।

आज टिकुली का उमर कुछ लच आई है। उसके सिर के बाल पक रहे हैं। मुख पर झुर्रियाँ स्पष्ट झलकने लगी हैं। शरीर से भी वह दुर्बल हो गई है। किंतु आज से कुछ वर्ष पहले, जब वंशी के इन झोपड़े में आई थी, तब वह कुछ और थी। गाँव के लोगों ने तरह-तरह की बातें उठाई थीं। वंशी को बिरादरी से बाहर कर देने तक की बातें उठी थीं। लेकिन स्त्रियों में टिकुली और पुरुषों में वंशी के आश्वासन ने बात बिगड़ने नहीं दी। थोड़े ही दिनों में गाँववालों ने यह मान लिया कि वंशी ऐसा-वैसा मामूली आदमी नहीं है। चरित्र को लेकर देखा जाय, तो वह देवता है। रह गई टिकुली! सो उस पर तो किसी तरह का संदेह किया ही नहीं जा सकता। वह दवी है। कर्म-भ्रष्ट हो जाने से यह अखंड वैधव्य उसे भोग करना पड़ा है।

[२]

गाँववालों के इस विश्वास का एक कारण है।

टिकुली तब आई ही आई थी। आए हुए शायद तीसरा दिन था। गुलबिया नाइन उसके यहाँ आ पहुँची थी। वह

एक नंबर की जासूस औरत थी। इधर-उधर की बातों में वह अपने मतलब की कुछ ऐसी बातें पूछ लेती थी कि चालाक-से-चालाक और बातूनी व्यक्ति का भेद उसके आगे साफ़ तौर से खुल जाता था। उसका हमला एकदम कच्ची नस पर होता था। यहाँ तक कि कुछ लोगों ने उसका सांकेतिक नाम 'वकील साहब' भी रख लिया था।

हाँ, तो गुलबिया ने आते-ही-आते दूर से ही सलामी दाग़ दी। बोली—"चरन छूती हूँ जीजी। गाँव-भर में कई दिन से कोहराम मचा हुआ है। जहाँ देखो, वहाँ यही चर्चा है कि देवरजू इतनी अच्छी, ऐसी सुघर दिवरानी ले आए हैं कि देखने पर भूख-प्यास भूल जाती है। कल दिन में कई बार आने की बात सोचकर रह गई। किसी तरह छुट्टी हो न पा सकी; तभी तो आज सबेरा होते ही आ गई हूँ।"

बस, गुलबिया इतना ही कह पाई थी कि उसने देखा, टिकुली का मुख रक्त के उभाड़ से, उत्ताप से जैसे आग के शोले उगलने लगा है। एक बार उसको सिर से पैर तक, फिर उसकी कटोरे-सी बड़ी-बड़ी आँखों को जो उसने देखा, तो उसे प्रतीत हुआ—उसकी सारी चतुरता, सारी परीक्षा-पटुता उसके पैरों के तलवों के आगे क्षुद्र—अतिशय क्षुद्र हो गई है।

संतोष की बात इतनी ही थी कि टिकुली ने उससे कोई कटुवचन नहीं कहा। इसके सिवा उसका रोष कुछ ही क्षणों

तक स्थिर रह सका। बात-की-बात में अपने को सँभालती और उल्लास की-सी एक हलकी झलक डालती हुई वह बोली—"तुमको मैंने पहचाना नहीं बहन।"

गुलबिया को जान पड़ा, उसकी इस कोमल वाणी में इतनी मिठास है, ऐसी आत्मीयता, जैसे युग-युग से वह उसकी बहन ही रही है। वह बोली—"मैं इस गाँव की नाइन हूँ जीजी; तुम्हें देखने और पूड़ी-पुआ लेने आई हूँ।"

उन दिनों वंशी के घर में किसी चीज़ की कमी न थी। वह झट भीतर चली गई। कोंछ में सेर-भर के क़रीब चने की दाल और एक भेली गुड़ ले आकर उसने गुलबिया को दे दिया।

गुलबिया को बायने में ऐसी भेंट किसी ज़मींदार के घर भी न मिली होगी। उसने कल्पना भी न की थी, जिसको देखने चली है, उसके आगे वह अपने आपको इतना कृतज्ञ, ऐसा पराजित पाएगी। तब वह आशीष के भाव से बोली—"दूधों नहाओ और पूतों फलो जीजी। जैसा सुना था, वैसा ही पाया।"

बायने को गाँठ में बाँधती हुई गुलबिया उठने ही वाली थी कि उसी समय गंभीर होकर टिकुली ने कहा—"बैठो, एक बात सुनती जाओ। बुरा न मानना बहन। मैं जीजा को ससुराल की ज़रूर हूँ, उनके साथ रहने के लिये भी चली ही आई हूँ। लेकिन मैं और चाहे जो होऊँ—उनकी घरवाली

नहीं हूँ। मैं विधवा हूँ, और ज़िंदगी-भर मुझे इसी तरह रहना है। मैं किसी को जानती नहीं, मैंने किसी को देखा भी नहीं। किसी तरह की याद मुझे उनकी नहीं है। तो भी मैं हूँ उन्हीं की। आदमी बात करने के लिये अपने पास किसी को चाहता है। चाहता है, दुःख में वह उसे उठकर पानी पिला सके, और सुख में पास बैठकर दो बातें कर ले। पर ऐसे आदमी दुनिया में मिलते कहाँ हैं! मैंने देखा, जीजाजी में कुछ सचाई और लोगों से ज़्यादा है, भीतर से कमज़ोर भी शायद और लोगों की तरह नहीं हैं। इसीलिये यहाँ चली आई हूँ। चार दिन की ज़िंदगी ठहरी। किसी तरह कट ही जायगी।"

गुलबिया तो जैसे सन्न रह गई! जान पड़ा, पैरों के नीचे की ज़मीन ही खिसकना चाहती है। एक बार जो उसकी दृष्टि नीचे की ओर झुकी, तो झुककर ही रह गई, उठ न सकी। "अरे बाप रे! ऐसा अखंड जिसका वैधव्य है, उसके लिये उसने कैसे अपमान की बात सोच डाली! ऐसी स्त्री तो देवी होती है। कहीं शाप दे दे, तो मैं तो कहीं की न रहूँ! न, इस तरह कैसे बनेगा?"

वह उसके पैरों पर गिर पड़ी। बोली—"क़सूर के लिये माफ़ी चाहती हूँ बहन।"

टिकुली ने कंधा पकड़कर उसे उठा लिया। फिर स्नेहावेश से गद्गद होकर वह बोली—"कोई बात नहीं है। तुमने भूल की थी, मैंने उसे सुधार लेने के लिये ही इतना कह दिया

है। मैं जानती हूँ, आगे से तुम इस तरह की भूल कभी न करोगी।"

गुलबिया ऐसी मर्माहत हो उठी थी कि फिर उससे कुछ भी कहते न बना। हाँ, चलते समय उसने एक बार टिकुली की ओर देखा ज़रूर। देखा, उसके उदास मुख पर भी एक तरह की चमक है, ज्योति है। देखा, अपना परिचय देते समय, दुःख के उभाड़ में, आँखों में जो आँसुओं के बूँद छलछला आए थे, वे अब ढुलकना ही चाहते हैं।

[३]

तड़ातड़ जवानी के वे दिन टिकुली ने किस तरह व्यतीत किए, कौन जानता है? जिन्हें जानना चाहिए, जब उन्हीं ने जानने की ज़रूरत नहीं समझी, तब और किसी ने अगर जाना भी, तो उसका नतीजा क्या?

दिन-भर तो वह घर-गृहस्थी के काम में लीन रहती थी। कोई आ गया, तो दो बातें कर लीं, यह दूसरी बात है। नहीं तो कामों का सिलसिला उसने ऐसा लगा रक्खा था कि सबेरे उठने के समय से लेकर प्रहर-भर रात्रि तक उसे दम मारने की फ़ुरसत नहीं मिलती थी। मकान की सफ़ाई, भोजन बनाना, बरतन मलना, कपड़े साफ़ करना, फटा-टूटा दुरुस्त करना, और शाम होते ही फिर भोजन या ताज़ा चना-चबेना तैयार करना। रात को सब कामों से कहीं निश्चिंत जो हो पाई, तो रामायण या महाभारत की कथा लेकर बाँचना। एक ओर वंशी खेती

में जी-जान न्यौछावर करके अर्थ का संचय करता, दूसरी ओर टिकुली उस संपत्ति को सँवारती, उसका सदुपयोग करती। सब तरह से उसने वंशी की दुनिया को सोनहरा बना दिया।

उस दिन वंशी को जल्दी नींद नहीं आ रही थी। बड़ी रात तक वह जागता ही रहा था। कई वर्षों से वह टिकुली का अध्ययन कर रहा था। अपनी ओर से वह कभी कोई ऐसी बात नहीं कहता था, जिससे टिकुली को कष्ट हो। यहाँ तक कि वह उससे हँसकर बोलता हुआ भी शंकित रहता था। वह टिकुली को भीतर से तो बहुत प्यार करता था, किंतु उसका प्यार मूक था। संयोग से उस दिन वह अर्द्ध-रात्रि के समय उठकर उस ओर जा पहुँचा, जहाँ टिकुली की चारपाई थी। खंभे की ओट में वह चुपचाप खड़ा था। एकाएक उसे ऐसा जान पड़ा, जैसे टिकुली रो रही है। पहले उसे विश्वास नहीं हुआ। किंतु थोड़ी देर खड़े रहने पर उसे स्पष्ट रूप से पता चल गया कि उसके कानों का संदेश मिथ्या नहीं। तब वह आगे बढ़कर टिकुली के बिलकुल पास जाकर खड़ा हो गया।

लालटेन अब भी जल रही थी। वह अभी खड़ा ही हुआ था कि आहट पाकर टिकुली उठ बैठी।

वंशी बोला—"यह क्या बात है ?"

प्रश्न में कुछ तीव्रता थी, कुछ आतंक! तो भी टिकुली डरी नहीं, कुछ छिपाना भी उसने स्वीकार नहीं किया। आँसू

पोछकर, ज़रा ठहरकर बोली—"यह एक ऐसी बात है जीजा, जिसका जवाब मेरे पास नहीं।"

"तो किसके पास है ?"

"शायद किसी के पास नहीं।"

"तुम भूलती हो टिकुली।"

"मनुष्य हूँ। भूलना मेरा स्वभाव है। भूल मैंने की भी है। लेकिन मैं जानती हूँ, दूसरी भूल मुझे नहीं करनी है। एक बात और है। रोना मेरे लिये कोई नई बात नहीं। तुम्हें आश्चर्य हुआ, यह बात ज़रूर मेरे लिये नई हो सकती है। इसके सिवा मैं यह भी जानना चाहती हूँ कि आज इतनी रात को तुम इधर आ कैसे गए ?"

"तुम्हारा रोना सुनकर।"

"झूठ बोलते हो। वहाँ—उतनी दूर मेरे रोने का स्वर पहुँचता भी है ?"

प्रश्न तो कर दिया टिकुली ने। किंतु उससे वह आप ही जैसे अभिभूत हो गई। क्या वह अंतःकरण से कह सकती है कि उसका रुदन, उसकी व्यथा, अभी तक वंशी के निकट पहुँच नहीं सकी ? फिर उसकी बात लेकर उसकी गंभीरता भी शिथिल हो पड़ी। थोड़ा-सा उल्लास भी जैसे उसके मुख पर ज्योतित हो उठा।

वंशी के जी में आया, वह अपना अपराध स्वीकार कर ले। किंतु ऐसा वह कर नहीं सका। उसने कहा—"माना

कि वहाँ आवाज़ नहीं पहुँच पाती, तो भी मैं तुमसे पूछ सकता हूँ टिकुली कि रोना भी क्या छिपाया जा सकता है ?"

टिकुली के पास इसका कोई उत्तर न था। अगर कोई था, तो वह था मौन। टिकुली मौन रही।

वंशी इसी समय बोल उठा—"ख़ैर, यह तो बात ही दूसरी हुई। मैं असल में कहना यह चाहता हूँ कि मेरा घर रोने के लिये नहीं है।"

टिकुली अब भी मौन रही। किंतु इस बार उसकी चेष्टा कुछ दूसरी थी।

वंशी जानता था, टिकुली कभी-कभी इसी तरह चुप लगा जाती है। फिर उससे चाहे जो पूछा जाय, कभी जवाब नहीं देती। अतएव वह थोड़ी देर खड़ा रहकर वापस लौट गया—एक हाहाकार लेकर।

[४]

दूसरे दिन जब वंशी की आँख खुली, तो उसने देखा—टिकुली का कहीं पता नहीं है। कई दिन तक वह चुपचाप अपना काम करता रहा। किसी ने जो पूछ दिया—आजकल बहनजी नहीं दिखलाई देतीं, तो उसने कह दिया—भाई के पास गई है।

वंशी काम तो करता गया, किंतु खाना उसका अब इच्छानुसार नहीं बन रहा था। कभी चने चबाकर रह जाता, कभी सत्तू खाकर। इस तरह अव्यवस्थित रूप से वह

कितने दिन स्वस्थ रहता ? अंत में वह बीमार पड़ गया। बीमारी के दिनों में यद्यपि उसे विशेष कष्ट नहीं होने पाया, क्योंकि पास बैठने के लिये उसके साथियों में जगदीश अक्सर मौजूद रहता था। यहाँ तक कि वह रात को भी वहीं सोता था। किंतु टिकुली विना वंशी अपने जीवन को मौत से भी बदतर समझ रहा था। कई दिन तक उसका ज्वर नहीं उतरा, और अंत में वह चारपाई से लग गया।

जगदीश ने कहा—"टिकुली को बुला तो वंशी। कहा मानो, ज़िद मत करो।"

लेकिन वंशी ने जवाब दिया—"तुम नहीं जानते भाई कि टिकुली मेरी कोई नहीं है !"

वंशी बात तो कड़ी कह गया, किंतु उसके रुद्ध कंठ और अश्रु-गर्भित नेत्रों ने बता दिया कि वह कितना सच बोल रहा है।

❀ ❀ ❀

सायंकाल था। चिराग़ जलाए जा रहे थे। इसी समय दरवाज़े पर बैलगाड़ी देखकर जगदीश बोला—"जान पड़ता है, टिकुली बहन आ गई।"

वंशी कुछ बोला नहीं। सिसकियाँ ले-लेकर वह रो पड़ा। बार-बार उसके भीतर से घूम-फिरकर एक ही बात उच्छ्वसित हो उठती थी—"वह इतनी दूर से मेरा रोना सुन लेती है, इतनी दूर से !"

आत्मघात

[१]

उस दिन से दिवाकर बिलकुल बदल गया है। वश रहते वह किसी पर नाराज़ नहीं होता, किसी को मारता नहीं। किंकर्तव्य-विमूढ़ हो-होकर वह अपराध के प्रकृत कारण की खोज करने लगता है। दुर्घटनाओं और विपत्तियों से व्याकुल होकर वह अपने वातावरण को क्षुब्ध नहीं होने देता, वरन् तुरंत वस्तु-स्थिति समझकर अपने तात्कालिक धर्म को ही देखता है। जीवन के साधारण, नित्य के व्यवहारों में 'हाँ' कहने की अपेक्षा 'ना' कहने की ओर उसकी अब अधिक प्रवृत्ति है। कुछ लोगों की धारणा है, यह भी दिवाकर के जीवन का एक प्रयोग है। किसी भाव से अत्यधिक प्रभावित होकर वह एकांगी बन गया है। परंतु बात क्या है, इसे कोई नहीं जानता।

❀ ❀ ❀

उस दिन।

"बाबू भैया! ओ बाबू भैया!!"

एक क्षीण, कंपित, आर्द्र स्वर और मौन। साठ-पैंसठ वर्ष की एक बुढ़िया। सिर में छोटे-छोटे कटे हुए, श्वेत केश, गड्ढों में

धँसी, ज्योति-शिथिल आँखें, मैले चिथड़ों से आवृत, जर्जर गात। निपट फटे-पुराने बोरों के कुछ टुकड़े और कार्ड-बोर्ड के बने टूटे जूतों के ढक्कन।

कानपुर का एक राजपथ, जो आगे बढ़कर मेस्टन-रोड को छ रास्तों के केंद्र से मिलाता है। एक ओर ज़नाना-हॉस्पिटल अपनी पुरातन कीर्ति लिए स्थित है, और दूसरी ओर कोत-वाली का विशाल भवन निर्मित हो रहा है। ढाई बजे दोपहर का समय. झलझलाती पावस की धूप। इक्का-दुक्का आदमी ही आता-जाता है।

दिवाकर हेड-पोस्ट-ऑफ़िस गया था। सेविंग-बैंक से उसे आज कुछ रुपए निकालने थे। लौटता हुआ इधर से आ निकला, तो उसे सुन पड़ा पीछे से यह क्षीण स्वर—"बाबू भैया! ओ बाबू भैया!!"

दैन्य-दुर्दशा-ग्रस्त, इस प्रकार के प्रपीड़ित समाज के साथ दिवाकर की कोई सहानुभूति नहीं, यह बात नहीं। तो भी ऐसे अवसरों पर वह सोच लिया करता है—उँह! यह तो संसार है। एक-से-एक बढ़कर दीन-दुखी प्रायः मिलते ही रहते हैं। किस-किस की ओर देखा जाय? अतएव उसने चाहा कि वह आगे बढ़ जाय। किंतु.... ...।

उसके चिंतन में अकस्मात् एक 'किंतु' आकर उप-स्थित हो गया। रुद्र मुख, लाल-लाल आँखें, भौंहें तनी हुईं।

"पाषाण कहीं के, मानवता के अपवाद ! तुम भी कहोगे, मैं मनुष्य हूँ !"

दिवाकर के भीतर आग की भट्ठी-सी धधक उठी।

लौटकर बोला—"क्या है बुढ़िया ?"

"बेटा, बेटा ! आह !"

वह कराहने लगी। उसका स्वर मंद पड़ गया। दिवाकर कुछ ग्रहण कर सका, कुछ नहीं। तब वह वहीं बैठ गया।

बुढ़िया बोली "कोई सब चुरा ले गया—सब ! अः-अः !"

उसकी आँखें भर आईं।

"क्या-क्या था ?" दिवाकर ने पूछ दिया।

"एक चद्दरा ! जिसमें कुछ सत्तू बँधे थे, और तीन पैसे।"

जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो। निमेष-मात्र में दिवाकर क्रोध और घृणा से इतना उत्तप्त हो उठा कि अपने को सँभाल रखना भी उसके लिये दुष्कर हो गया। विवर्ण मुख, चिनगारियाँ उगलती हुई आँखें और तीक्ष्ण स्वर से उसने कह दिया—"वह आदमी नहीं हो सकता। जानवर होगा—कुत्ता ! कुत्ता भी जान-बूझकर ऐसा करना पसंद न करता।"

फुटकर पैसे उसकी जेब में न थे। एक दुअन्नी थी। वही उसे देकर वह चल दिया।

रास्ते में—

आह ! इतना दुःख ! एक निराश्रिता वृद्धा तक को तुम इतना दुःख देते हो, और कहलाते हो दयाधाम ! तुम्हारी

सृष्टि में ऐसे-ऐसे नर-पिशाच बसते हैं कि अस्थियों के ऐसे ढाँचे तक को आघात पहुँचाए विना नहीं चूकते ! और, तुम कहलाते हो जगदीश ! निरंकुश ! यही तुम्हारा न्याय है ! ! तुम सोते हो, या पीनक में हो—अपने मनोराज्य में। अफ़ीमची कहीं के ! इस प्रकार के दीन-दुखियों को तुम उठा ही क्यों नहीं लेते, ज़ालिम !

परीक्षा।

तो, तुम मानवता की परीक्षा लेते हो—न्याय के काँटे पर तोलकर अपराधी से उसका कर्म-भोग लेते हो। तुम न्यायपति-रूप में शिव हो, क्योंकि तुम्हें दंड भी देना होता है—दूध-का-दूध और पानी-का-पानी पृथक्-पृथक् करके दिखलाना होता है।

दिवाकर के भीतर दहकती हुई भट्ठी प्रशांत पड़ गई। वह अपने काम में लग गया।

[२]

बीस वर्ष पहले—

उस समय कामता की मा के घर सब कुछ था। उसका स्वामी रामधन एक अच्छा-ख़ासा किसान था। उसके द्वार पर बैलों की जोड़ी थी; दो गाएँ, एक भैंस। उसके दो पुत्र थे। बड़ा कामता पिता के साथ खेती का काम किया करता। छोटा था केदार, वह उन दिनों पढ़ रहा था।

कामता की मा के वे सोने के दिन थे। उसके ऊपर काम

की कोई ज़िम्मेदारी न थी। उसके जी में आता, इधर-उधर के काम कर देती ; न जी में आता, बैठी-पड़ी रहती। वह दही जमा लेती, मट्ठा फेर लेती। त्योहार आता, तो रसोई तयार करा लेती। बहू के काम में, जो उससे बन पड़ता, सहायता दे देती। इच्छानुसार वह व्रत-पूजन करती और जब जी में आता, सत्यनारायण की कथा सुन लेती। ख़र्चे के लिये उसके हाथ में दस-बीस रुपए बने ही रहते।

कुछ दिनों बाद केदार का भी विवाह हो गया। अब कामता की मा के एक के बजाय दो बहुएँ हो गईं। उसका आँगन बहुओं की पायल की झनकार से निरंतर गुंजित रहने लगा।

उन दिनों केदार टाउन-स्कूल की शिक्षा समाप्त करके ज़िला-स्कूल में अँगरेज़ी पढ़ रहा था। उस समय अपनी नव-भार्या को लेकर, उसके जीवन में, नारी के रूप में एक नया संसार निर्मित हो उठा। बड़ी छुट्टियों में तो सदा की भाँति वह घर आता ही था, पर अब उसकी एक दिन की छुट्टी भी घर आए विना न चूकती थी !

केदार की उस नव-भार्या का नाम था चमेली। स्वरूप में वह अपने नामानुरूप आकर्षक थी। केदार जब घर आता, तो उसे छेड़ने के लिये चमेली के फूलों की एक माला भी लिए आता। चमेली उसे देखकर मुस्किरा देती। कहती—"तुम्हें शरम भी नहीं लगती। कोई देखे, तो क्या कहे !"

केदार कई बार टाल गया, उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

एक बार उसका जी न माना। बोला—"कैसी शरम? तुम्हें देखकर तो शरम नहीं लगती। तुम भी तो चमेली हो!"

चमेली बोली—"तुम्हें न लगे, तुम पुरुष जो हो। लेकिन मुझे तो लगती है, और इसे भी लगती है—इस माला को भी। तभी तो वह मुरझा जाती है!"

केदार ने लक्ष किया—चमेली कभी चूकती नहीं। सदा निरुत्तर ही किए रहती है। वह जब छुट्टी बिताकर स्कूल जाता, तो निरंतर उसकी बातें सोचा करता। झीने परिधान के भीतर से झाँकता हुआ उसका नवल यौवन, काजल की हलकी रेखाओं से आवृत उसके प्राण-प्रद मृगलोचन, कनक-लता-सा उसका वर्ण-विन्यास एक क्षण को भी उसे भूलता न था। उसके प्यार की एक-एक बात पर वह घंटों विचार किया करता। वह सोचता, उसने कहा था—"अब इस प्यार को थोड़ा कम कर दो। बहुत अधिक प्यार करना अच्छा नहीं होता।...तुम जब चले जाते हो, तब मेरा जी बहुत घबराने लगता है।"

उसने सोचा, यह बात क्या है, जो उसने कहा—"बहुत प्यार करना अच्छा नहीं होता।"

"तो प्यार करने में भी क्या कोई बुराई है?"

"पगली! कैसी उलटी बात कह गई! अरे, प्यारी वस्तु तो प्यार करने के लिये बनाई ही गई है। प्यार ही उसका जीवन है। एक बार जिसे प्यार किया, जीवन-भर के लिये

किया—थोड़ा किया या अधिक। उसके लिये न्यूनाधिक का विवेक क्यों? जीवन है, तो प्यार भी है। प्यार विना जीवन की स्थिति क्या?

"वह अबोध है अभी। जानती नहीं कि प्यार तो उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है—गहरा ही होता रहता है। जीवन का वही चरम सुख है।

"तो उसने यह क्यों कहा कि तुम जब चले जाते हो, तो मेरा जी बहुत घबराता है।

"ठीक तो कहा उसने। इधर मेरा जी भी तो कम नहीं घबराता। सोचने लगता हूँ, कहीं उसे कुछ हो न जाय—कहीं वह बीमार न पड़ गई हो!"

सन् १९ का वह युद्ध-ज्वर। महामारियों के भारतीय इतिहास में उसने जो अक्षय कीर्ति अर्जन की, उसकी तुलना नहीं हो सकती। उसकी पिशाच-वृत्ति ने उस समय जो महा विकराल रूप धारण किया, उसके स्मरण-मात्र से आज भी चेतना धूमिल हो उठती और मांस-पेशियों की प्रगति विकृत हो जाती है।

पिता की बीमारी का समाचार पाकर वह तुरंत घर आया। पर आते-आते वह उन्हें पा न सका। सात मील दूर, पास ही, रिंद-नदी बहती थी। उन दिनों उसमें कहीं-कहीं थोड़ा-थोड़ा पानी था। गाँव के दस-पाँच व्यक्तियों के साथ कामता अपने पिता का शव लेकर नदा पर पहुँचा। केदार भी साथ गया।

लोगों ने देखा, यत्र-तत्र इतने शव पड़ बदबू कर रहे हैं कि वहाँ ठहरना मुश्किल है। गिद्ध, कुत्तों और कौवों में द्वंद्व-युद्ध मच रहा है। विकृत मांस की नोच-खसोट का चरम बीभत्स दृश्य देखकर केदार स्तंभित हो उठा। कई बार उसके मन में आया और गया — उफ़ ! मानव-देह की यह दुर्गति ! जो कमनीय कलेवर सुगंधित साबुन से मल-मलकर धोया जाता है, सुवासित इत्र-तैलों से जिसकी निरंतर प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है, उसका यह अंत !

किसी तरह पिता की अंत्येष्टि-क्रिया करके कामता घर लौटा। केदार का हृदय दुर्भावनाओं की आशंका से यों ही अर्धमृत हो रहा था। घर आते-आते वास्तव में उसने अपनी प्रियतमा को अस्वस्थ पाया। दूसरे दिन प्रातःकाल उसका भी स्वर्गवास हो गया। उसका शांति-संस्कार तो किसी तरह केदार ने किया, किंतु वह फिर स्थिर रह न सका। मालूम नहीं, वह कहाँ चला गया ? उसका कहीं कुछ भी पता न चल सका।

दिन चलते गए।

कामता को अपनी ससुराल में थोड़ी ज़मीन मिल गई। वह वहीं रहने लगा। कुछ दिनों तक तो वह मा को ख़र्च भेजता रहा। पर फिर धीरे-धीरे वह भी चुप हो गया।

[३]

दूसरे दिन दिवाकर लाटूश रोड से घर आ रहा था। मूलगंज में उसे एक परिचित सज्जन देख पड़े। खड़े-खड़े वह उनसे

बातें करने लगा। किंतु वार्तालाप का विषय जल्दी समाप्त होता न देखकर वह एक परिचित दूकान के सामने पड़ी हुई बेंच पर बैठ गया।

उसी क्षण—

"एक पैसा !"—ध्वनि ने उसे ध्यानांतरित कर दिया।

दिवाकर ने मुँह फेरकर देखा, उसकी अवस्था अधिक नहीं जान पड़ती; यही सैंतीस-अड़तीस वर्ष होगी। नंगे बदन, कमर में एक लुंगी—फटी, मैली इतनी कि बदबू उगलती हुई। बढ़ी दाढ़ी के काले-काले बाल चमक रहे हैं। जान पड़ता है, निकट काल में उन्होंने यथेष्ट सेवा पाई है। सिर के बाल कुछ बढ़े हुए हैं, किंतु इतने नहीं कि मुड़कर, करवँट लेकर, सो सकें। सीने पर काले बालों का एक कुटुंब पनप रहा है। उँगलियों के नाखून सफ़ाई के साथ कटे हैं। दाँत इतने साफ़ हैं कि मोती-से झलकते हैं। श्यामवर्ण के गोल मुँह में आँखों की भाषा बड़ी सजीव प्रतीत होती है। दृष्टि-क्षेप में उद्बुद्ध शांतता और निर्मोह-जन्य विरक्ति की छाप है।

किंतु दिवाकर का ध्यान इन सब बातों पर तो बाद को गया। पहलेपहल जिस बात ने उसे उसका इतना अध्ययन करने की प्रेरणा की, वह थी उसके शरीर-भर में मुद्रित, दूर से ही पुकार-पुकारकर अपना परिचय देती हुई सिफ़लिस—हाँ, सिफ़लिस !

हालाँकि दिवाकर को उसके शरीर की दुर्गंध बड़ी तीक्ष्ण

जान पड़ी, तो भी उसने रूमाल निकालकर नासिका के छिद्रों से नहीं लगाया। बस, चरम सचेष्ट होकर वह उसे देखता ही रहा।

तब उसी क्षण उसने कह दिया—"एक पैसा दे दीजिए।"

"ओह! कितनी आत्मीयता!—वाणी में कितनी मिठास!"

लक्ष करके दिवाकर ने देखा, उसकी मुद्रा, होंठ और मुक्त दंतावलि से एक अभिनव दीप्ति फूट पड़ी है। तत्काल उसने उत्तर दिया—"पैसा मैं अभी देता हूँ, लेकिन यह तो बतलाओ; तुम्हारा नाम क्या है?"

वह पहले कुछ बुदबुदाया, किंतु दिवाकर उसे ग्रहण नहीं कर सका। वह जब तक कुछ और पूछे, उसने उत्तर दे दिया—"मेरा नाम कुछ नहीं।"

"यह कैसा उत्तर? यह भी संभव हो सकता है कि तुम्हारा नाम कुछ न हो!"

"हाँ, हो क्यों नहीं सकता? सभी कुछ हो सकता है। जैसे इस दूकान में शीशे के गिलास हैं, चीनी के बर्तन, प्याले, jugs, और आज इन्हें आप इन नामों से पुकारते हैं, किंतु कल अगर इन चीजों के टुकड़े-टुकड़े हो जाँय, तब उनमें से किसी एक को आप कौन-सी संज्ञा देंगे? क्या आप बता सकेंगे कि वह किसका टुकड़ा है? वे सब कूड़ेखाने में फेंक दिए जायँगे—तब वे प्याला, तश्तरी, jug आदि में से कुछ भी तो नहीं कहला सकते। नाम तो पड़ते-पड़ते पड़ता है। पड़

जाने पर पलक मारते मिट भी जाता है। फिर नाम तो एक कल्पना है, एक मानी हुई बात। उसका स्थायित्व क्या? जैसा पड़ा, वैसा न पड़ा। इसके सिवा नामों में विविधता भी होती है। कोई किसी वस्तु को किसी एक नाम से पुकारता है, दूसरा दूसरे नाम से। मताधिक्य का Record कौन रखता है?"

दिवाकर अवाक् हो गया। इस प्रकार का उत्तर और यह वेश! उसी क्षण पैसा उसने उसके हाथ पर रख दिया। पैसा पाकर जब वह चलने लगा, तो दिवाकर से फिर भी यह कहे विना नहीं रहा जा सका कि कुछ भी हो, अब तो बता दीजिए अपना नाम!

किंतु उसने अन्य प्रश्न उठने का अवसर न देकर, चलते हुए कह दिया—"अभी तक मेरा नाम नहीं पड़ा।"

[४]

तीसरे दिन प्रातःकाल दिवाकर घूमकर लौट रहा था। संयोग से वह जनाना-हॉस्पिटल के निकट से गुज़रती हुई उसी सड़क से आ निकला। उस दिन की वह बुढ़िया अब भी उसी स्थान पर बैठी थी। किंतु थोड़े अंतर से एक ओर भीड़ लगी हुई थी। कुतूहल से वह भी आगे बढ़कर उसी वृंद में जा मिला। उसने देखा, एक शव है लावारिस। म्युनिसिपल-बोर्ड के स्वीपर्स उसे ठेले पर ले जाना चाहते हैं।

दिवाकर उसे देखते ही पहचान गया। उसके होंठ एक-दम से काले पड़ गए हैं। लाल-लाल डोरेवाली वे ज्वलंत आँखें

खुली की खुला ही रह गई हैं। मुँह से बहुत-सा फेन निकल-कर कुछ तो सूखकर सड़क की भूमि को तर कर गया है, कुछ अब बह रहा है!

जैसे चिता धू-धू कर जल उठती है, वैसे ही दिवाकर उस व्यक्ति की यह गति देखकर भीतर-ही-भीतर धधकने लगा। उसके मन में अनेकों संकल्प-विकल्प आए और गए। उसने कहना चाहा कि इस व्यक्ति का अग्नि-संस्कार मैं करवा दूँगा, आप लोग व्यर्थ कष्ट न करें। किंतु विचारों के अबाध मंथन में वह तुरंत कर्तव्य-रत हो न सका।

एक चादर उसके ऊपर पड़ी हुई थी। एक स्वीपर ने झटके से उसे अलग कर दिया, तो उसके एक छोर में बँधी कोई चीज़ दीवार की ईंट से टकराकर कट्-सा शब्द कर उठी। खोलने पर उसमें निकले तीन पैसे और एक बादामी काग़ज़ का टुकड़ा, जिसमें ढीली अफ़ीम के कत्थई वर्ण के दाग़ थे।

जन-समूह से तरह-तरह की आवाज़ें उठने लगीं। एक वृद्ध ने कह दिया—"जैसी करनी, वैसी भरनी।"

किसी ने मुँह बिचकाकर उपेक्षा से कह दिया—"सिफ़लिस का रोगी!"

एक बाबू साहब बोले—"इन कंबख़्तों को मरना भी नहीं आता।"

तब तक वह बुढ़िया भी आ गई थी। ठेले पर जब वह

शव रखकर उसी चदरे से ढक दिया गया, तो बुढ़िया चिल्ला उठी—"अरे! यह चदरा तो मेरा है। मुझे देते जाओ।" किंतु क्षण-भर बाद उसने कह दिया—"लेकिन अब यह मेरे किस काम का! ले जाओ, ले जाओ इसे।"

[५]

इसी समय भीड़ चीरते हुए एक व्यक्ति ने आकर शव पर पड़े हुए मुँह की ओर के चदरे को उलट दिया। मुख देखते ही मर्माहत होकर वह बोल उठा—"ओह! तुम हो!"

उसके नेत्रों से आँसू टपकने लगे। कंठ-रुद्ध, क्षीण अस्थिर स्वर से उपस्थित जन-समूह को संबोधन करते हुए उसने कहा—"मेरे गुरुदेव हैं। इनका संस्कार मैं करूँगा।

"कहा करते थे—निर्वाण होने से कुछ दिन पूर्व, मैं कुछ दिनों के लिये, भ्रमण करूँगा। मेरी चिंता न करना।

"ऐसे रोग से आक्रांत थे, किंतु हम लोगों के बहुत आग्रह करने पर भी कोई चिकित्सा नहीं की। बोले—अपराध का प्रकृत दंड-भोग करूँगा।

"सदा ज्ञान की खोज में रहे, जीवन की प्रत्येक दिशा को अनुभव करके देखा। प्रायः कहा करते थे—किसी को बहुत अधिक प्यार करना भी अच्छा नहीं होता।"